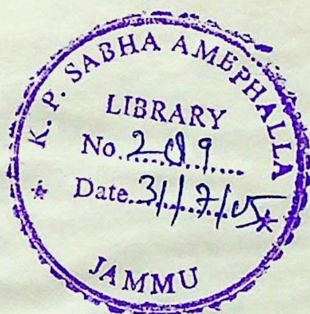
हमारा साहित्य





हमारा साहित्य १९७५
का

लोक साहित्य अंक



सम्पादक

रमेश मेहता

जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज, जम्मू

सचिव द्वारा जे० एण्ड के० अकादमी
ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़,
नहर मार्ग, जम्मू के लिए प्रकाशित

प्रथम संस्करण : १९७७

मैं० अमर आर्ट प्रेस, मोती बाजार,
जम्मू द्वारा मुद्रित

आवरण : श्री विद्यारत्न खजूरिया के
'फ्री फॉर्म' का प्रस्तुतीकरण

मूल्य : ९ रुपये

FOLKLORE NUMBER OF HAMARA SAHITYA 1975
Edited by ; RAMESH MEHTA

अपनी ओर से....

हमारा साहित्य १९७५ का प्रस्तुत अंक भारतीय लोक साहित्य के सन्दर्भ में कश्मीरी एवं डोगरी लोक-साहित्य के विभिन्न रूपों के उद्घाटन एवं आकलन को समर्पित है। इस प्रयास से पूर्व, जब भी कभी डोगरी एवं कश्मीरी लोकसाहित्य के विभिन्न रूपों पर चर्चा इत्यादि करने का अवसर आया है, तो विद्वानों ने प्राय: सरल लगने वाले विषयों को अपनाया है। परिणामत: एक ही विषय पर अनेक विद्वानों ने लेख लिखे और इस प्रकार 'नवीन' का खोजी पाठक इस ओर से निराश होने लगा। लोक-साहित्य के अध्ययन में उसकी रुचि कम होने लगी। यह एक खतरनाक मोड़ था। अकादमी ने इस खतरे को महसूस किया और लोक-साहित्य के लोक तात्विक अध्ययन पर बल दिया।

डॉ० श्याम परमार ने अपने लेख **'भारतीय लोकगीत—नई चेतना का उदय'** में सम्पूर्ण भारतीय लोकसाहित्य के समन्वयवादी स्वर पर प्रकाश डाला है तो प्रो० रामनाथ शास्त्री ने पंजाबी एवं डोगरी टप्पे का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए अनेक सुन्दर उदाहरण जुटा कर इनके सम एवं विषम स्वरों को मुखरित किया है। डोगरी लोक-गाथाओं के अध्ययन की आवश्यकता पर डॉ० ओम प्रकाश गुप्त द्वारा दिया गया बल चौंकाने वाला है। नि:संदेह यदि अभी से इस सन्दर्भ में कुछ न किया गया तो अनेक लोक-गाथायें बड़े-बूढ़ों के आंख मूंदने के साथ ही मौन हो जायेंगी। शशिशेखर तोषखानी, डॉ० प्राणनाथ तृच्छल और डॉ० निज़ामउद्दीन के लेख कश्मीरी लोक-जीवन की प्रामाणिक

झांकी प्रस्तुत करते हैं तो विद्यारत्न खजूरिया—जो स्वयं एक विश्व-विख्यात कलाकार हैं—ने बसोहली चित्रकला में लोक परम्परा के जो अवशेष बचे हैं उनका अध्ययन प्रस्तुत किया है। डॉ० चम्पा शर्मा, प्रो० सत्यपाल शास्त्री और ओम गोस्वामी ने डोगरी परम्पराओं, विश्वासों एवं मान्यताओं के सहारे डोगरी लोक-जीवन का चित्रांकन करने का सफल प्रयास किया है। इधर नई कविता के सन्दर्भ में प्रतीक की बहुत चर्चा होती रही है। श्री देवरत्न शास्त्री ने डोगरी लोकगीतकार द्वारा प्रयुक्त प्रतीकों का वैज्ञानिक अध्ययन किया है तो कु० अनिल गोयल ने डोगरी लोकगीतों के शिल्प-पक्ष पर ध्यान केन्द्रित करते हुए टेक का अध्ययन करने का प्रयास किया है। अपने इस प्रयास में ये लोग कहां तक सफल रहे हैं, इसका निर्णय हम सुधि पाठकों पर छोड़ते हैं।

अंततः हम यह दावा तो नहीं करते कि प्रस्तुत अंक में लोक साहित्य के जिन पक्षों को उजागर किया गया है, उन पर पहले से कोई सामग्री प्राप्त नहीं है किन्तु इतना कहने का साहस जरूर करते हैं कि इस अंक में संकलित विद्वान् लेखकों ने डोगरी एवं कश्मीरी लोकसाहित्य एवं बसोहली चित्रकला के अध्ययन को एक नई दिशा दी है—नए आयाम प्रदान किए हैं।

—रमेश मेहता

अनुक्रमणिका

———

भारतीय लोकगीत—नयी चेतना का उदय

—डॉ० श्याम परमार

लोकगीत जन-जीवन की विविध भावनाओं, आशा-आकांक्षाओं, संस्कृतियों और राग-अनुरागों के दस्तावेज़ कहे जाते हैं। उनका समूचा कथ्य अलिखित इतिहास का साक्षी है। लोक-मान्यताओं और श्रुत-परम्परा में जिनका दृश्य उन अनेक बातों को प्रकट करता रहता है जिसमें नयी चेतना के अंश और सांस्कृतिक समन्वय की भावना निहित होती है। भाषागत वैविध्य और संस्कृतियों की भिन्नता के बाद भी समूचे लोक-साहित्य में एकता के कितने ही बिन्दु उपलब्ध हैं। खासकर लोकगीतों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। लोकगीतों का बहुत-सा अंश जिस तरह प्रादेशिक है, उसी तरह वह राष्ट्रीय भी है। इसमें दो राय नहीं हो सकती कि भावनात्मक एकता का महत्वपूर्ण लेखाजोखा लोक-साहित्य की सभी विधाओं में सहज उपलब्ध है। लोक-कथाओं और लोकगीतों में ऐसे कई उदाहरण देखे जाते हैं। लोकगीतों में इतिहास के वे अंश गुम्फित होते चले जाते हैं जो लिखित प्रमाण से छूट जाते हैं। कोमल भावनाओं, राजनीतिक परिस्थितियों, जातीय संस्कारों और मान्यताओं से मुक्त होकर लोकगीत चल नहीं पाते। बहुतेरे गीत तो ऐसे हैं जिनमें भारतीय किसान ने अपने अनुभवों को शब्दबद्ध किया है। जिस सामन्ती और ज़मींदारी व्यवस्था में वह सदियों से पिसता चला आया है, उसे वह भूला नहीं। समय के साथ वह अनेक बातें समझने लगा। उसकी यह समझ उसमें धीरे-धीरे उत्पन्न होने वाली चेतना का सबूत है। गांवों में रहने वाला खेतीहर मानव मजबूरियों, अभावों और ब्याजखोरों का शिकार होकर धीरे-धीरे इस निष्कर्ष पर पहुंच गया कि 'आम, नींबू और बनिया बिना गला दबाए रस नहीं देते।' यह एक नये जीवन की खोज का अप्रत्यक्ष रूप में पहला चरण है। वह यह भी ठीक तरह से समझने लगा है कि दुनिया दो वर्गों में बंट गई है

और निज के शोषण से उसने सीखा है कि शोषक शक्तियों का विनाश उसके संगठन और दृढ़ता में निहित है। भविष्य के प्रति उसे विश्वास है—

ई दन जावे रे, म्हारा मनभाया,
ई दन जावे रे—

लोकगीतों द्वारा किसी देश की संस्कृति और उसके वास्तविक जन-जीवन का परिचय प्राप्त होता है। रीति-रिवाजों और धार्मिक अवसर-विशेष के गीतों से जहां एक सामाजिक पक्ष का एकांगी स्वरूप व्यक्त होता है, वहां दूसरा पक्ष देखने और समझने के लिए उन गीतों की खोज आवश्यक है जो आर्थिक कठिनाइयों और दारिद्रय की भूमि पर पनपते हैं।

सामूहिक प्रेरणा के स्रोत

गोर्की ने गीतों को सामूहिक प्रेरणा का प्रबलतम स्रोत कहा है। उसने जनता की सृजनात्मक शक्ति का उल्लेख करते हुए लोकगीत-आन्दोलन के सिलसिले में कहा था कि "जनता, सृष्टि का प्रथम दार्शनिक और आदि कवि है।" शायद राल्फ विलियम्स ने इसी भाव को दूसरे शब्दों में रखने का प्रयत्न किया है, जिसमें लोकगीत को उस मूल पेड़ की तरह बताया है जिसकी जड़ें भूतकाल में स्थित हैं और जिसमें नित्य नई-नई शाखाएं और कोंपलें फूटती हैं। यही पेड़ जनता के कवि-रूप का परिचायक है।

लोकगीतों की परम्परा इन्सान के आदिम-युग से चली आ रही है। युगों की छाप उसके भावों पर पड़ी और वह अपने जीवन को ईमानदारी से अपनी बोलियों में प्रकाशित करता हुआ आज भी विपरीत परिस्थितियों में संघर्ष करता चला आ रहा है। उसने समय-समय पर शोषण के विरुद्ध गीतों में आवाज उठाई, अपने श्रम का परिहार गीतों के सहारे किया, नया उत्साह और लगन गीतों द्वारा प्राप्त किये, और इतना ही नहीं, मन की छिपी हुई मीठी बातों के सुख और दुःख को इन्हीं गीतों में ढाला। यों सभी प्रकार के संघर्षों का सामना करते हुए मनुष्य क्रमशः अपने शब्दों की शक्ति पर विश्वास करने लगा, जो उसके लिए अधिक उत्पादन और विरोधी शक्तियों से लोहा लेने के हेतु बलप्रद सिद्ध हुआ। गोर्की ने इसीलिए लोकगीतों की गंगा को 'दी ओरल क्रियेटिवनेस ऑफ दी पीपुल' कहा है।

नयी रोशनी के चिन्ह

युग की बदलती हुई परिस्थितियों में आज गीतों के भीतर एक नई रोशनी के चिन्ह प्रकट होने लगे हैं। उनमें 'सोने की थाली में भोजन परोसा'

की सम्भावित कल्पना, वीरों को देवतुल्य मानने का विश्वास, अन्धश्रद्धा, भ्रम, आदि सब जीवन के कठोर सत्य से टकरा कर ढहने लगे हैं।

इस दृष्टि से जब हम सन् सत्तावन के विद्रोही स्वर, छप्पन के अकाल के उद्गार, अंग्रेजों के प्रति विरोध को व्यक्त कर देश के स्वाधीनता संग्राम के महत्व को उद्घाटित करने वाले भाव, क्रान्तिकारी वीरों की मौत पर आंसुओं से भीगे जोशीले गीत अथवा भूख और दारिद्रय से पीड़ित दृश्य की पुकार का अध्ययन करते हैं तो एक नया ही हिन्दुस्तान दीख पड़ता है। और इसी परम्परा को आगे ले जाने वाले गीतों में नये स्वरों तथा आने वाले भविष्य के प्रति नये विश्वास के दर्शन होते हैं।

गहरे होते गये अभाव

औद्योगिक क्रान्ति ने समाज में बड़ा परिवर्तन उपस्थित किया। सुखी किसान मजदूर बनने लगे। समृद्धि एक ओर झुक गयी। शोषण का चक्र गति पकड़ने लगा और गरीबी ने लोगों का गला दबाना प्रारम्भ कर दिया। 'जब से रेल चली, जंगल और पहाड़ कट गए। जो पैसा था, उसे मैंने पैरों को सौंप दिया और पेट रीढ़ से चिपक गया'—ऐसे भाव कई रूपों में व्यक्त होने लगे। पर जब युद्ध की ज्वालाएं संसार पर छाने लगीं तो ऐसा लगा मानो लोगों पर संकट की लपटें बरसने वाली हैं। अभाव गहरे होते गए। महँगाई के कारण बेचारा अहीर गायक बिरहा, कजली और कबीर गाना भूल गया। अब तो गोरी के उन्नत स्तन देखकर भी उसके हृदय में पीड़ा नहीं जागती—

मंहगी के मारे बिरहा बिसरिगा, भूलि गई कजरी कबीर।
देखिके गोरीक उभरा जोबनवा, अब उठै न करेजवा में पीर।

इस मँहगाई का कष्ट देश के प्रायः निम्न और मध्यवर्गीय परिवारों को हुआ; विशेषतः निम्न-मध्यवर्गीय कुटुम्बों की स्थिति बिगड़ गयी। उन्हें छोटी-छोटी बातों के लिए तरसना पड़ा। मालवा की स्त्रियों ने गाया—

जी हरो रंग पीलो रंग मोंगो कर दिया
कुंकु कर दिया फीको
जी लाल रंग को तो भाव चढ़ाई दियो
लुगड़ा काय से रंगा रे
जी दाल चावल सब मोंगा करी दियो

शक्कर कर दी मुसकल
घी को तो भाव चढ़ाइ दियो
चोखा काय से जीमा रे ?

इस युद्ध ने हरा और पीला रंग मँहगा कर दिया है तथा कुंकुम फीका कर दिया है ; अर्थात् युद्ध की भयंकरता से मांग का कुंकुम फीका पड़ गया है—हमारा सुहाग कांप रहा है। लाल रंग का भाव चढ़ा दिया है। हम लुगड़े काहे से रंगें ? दाल-चावल सब मंहगे कर दिए, और शक्कर तो मिलना दुश्वार है। घी का भी भाव चढ़ा दिया है, हम चावल काहे से खावें ?

मँहगाई की अभिव्यक्ति में ब्रह्मा तक को लपेट लिया गया है, जिससे तंगी का आधिक्य अच्छी तरह से प्रकट हो सके। बाराबंकी का एक गीत है जिसमें एक हिरन बहेलिये के फन्दे में फंस जाता है। उस समय वह हिरनी से कहता है—"ब्रह्मा के घर में खर्च की तंगी आ गयी, सो अब वह मेरा मांस बेचकर खाएगा।"

विधना के घर खरच खोटाने
बेचि खात मोर मांस

'भूखे भजन न होई गुपाला' की उक्ति प्राय: सभी ने सुनी है। बिना पेट में कुछ डाले कोई काम नहीं होता। इसी प्रकार भूखा कवि कहीं और से कविता उत्पन्न नहीं कर सकता। उसे अन्न चाहिए, तभी वह रचना प्रस्तुत कर सकता है। इस सच्चाई को निम्न पंक्तियों में बड़ी सादगी से व्यक्त किया गया है—

ना बिरहन की खेती पाती, ना बिरहन को बंज।
जाही पेट से बिरहा उपजै, गाऊं दिन औ रात।

—बिरहों की न खेती होती है, न बिरहों का व्यापार। बिरहे इसी पेट से पैदा होते हैं जिन्हें मैं रात-दिन गाता फिरता हूँ।

एक अहीर लोकगीत में राम और लक्ष्मण भिखारी बना दिये गए हैं। अपनी सीमाओं और संस्कारों के अनुकूल पात्रों को स्वरूप प्रदान कर देना लोक-गीतकार की अपनी स्वाभाविक वृत्ति है। वह राम-लक्ष्मण को गले में तुम्बी लटकाये दूर देश में भीख मांगते हुए दिखाता है। यह उसकी अपनी परिस्थितियों का तकाजा है जिसकी वजह से वह अपने प्रसिद्ध वीरों और आदर्श महापुरुषों को अपने उच्च आसनों से उतार कर अपने रूप में मिलाना चाहता है। वह उन्हें अपने से भिन्न और परायेपन के भावों से युक्त नहीं

देखना चाहता। उनकी मुसीबतों को अपनी मुसीबतों से मिलाकर वह सहानुभूति प्राप्त करने का प्रयास करता है।

गृहस्थ जीवन के चित्र

गृहस्थ जीवन की कठिनाइयों के कुछ कठोर चित्र मेवाड़ी और राजस्थानी गीतों में अच्छे उतरे हैं। एक राजस्थानी गीत में गीतकार ने बैलों का उदाहरण देकर बताया है कि वे दिन-रात मेहनत करते हैं और उसका फल दूसरा भोगता है। इसी प्रकार किसान बेचारा दिन-भर परिश्रम करता है, पर वह स्वयं अपने परिश्रम का फल नहीं भोग पाता। उसे अपने कुटुम्ब का पालन करना भी मुश्किल हो जाता है।

दिन राती भागतड़ा काटां
सुख सूं कदेय न सोवां, मेरो स्याम
घर चारो, घर चारो भोत दुहेली
मेरो स्याम, घर चारो जी।

दिन-रात भाग दौड़ में कटते हैं। सुख से कभी सोना नहीं होता, घर चलना बड़ा कठिन है। मेरे स्वामी, घर-बारी बड़ी दुहेली है।

शोषण का स्वरूप धीरे-धीरे गीतों में स्पष्ट होने लगा है। इस शोषण के परिणामस्वरूप कभी-कभी भूखों मरने की नौबत आ जाती है। पत्नी अपने पति से कहती है—"हे स्वामी, घर में अनाज समाप्त हो गया है, बच्चे भूखों मर रहे हैं। …ये सूर्य उगते ही कलेवा मांगते हैं। मैं कहां से लाऊं? घर में पैसे की उपज नहीं। आगे का काम किस तरह चले?

किसान जब मजदूर बनने जाता है तो उसके पूर्व घर की यही स्थिति उसे अपने परम्परागत धन्धे से विमुख करने में योग देती है। इन पंक्तियों में पत्नी सलाह देती है—

कुबे पर कुवाड़ा जावो
लाओ दोय आना कुमाय
ढोला, घर सपड़ ग्यो नाज
टाबरिया भूखा मरे।

कुबे पर काम करने जाओ, दो आने कमाकर लाओ। प्रियतम, घर में अनाज समाप्त हो गया। बच्चे भूखों मर रहे हैं।

पिछले कितने वर्षों से भारतीय किसान का ऐसा ही इतिहास है। औद्योगिक प्रगति की आड़ में पूंजीवाद ने उसकी जमी हुई शक्ति पर भारी प्रहार किये हैं।

कर्ज़ का भार

कर्ज़ किसान की दूसरी समस्या है, जो ऊपरी समस्याओं से मुख्यत: सम्बन्धित है। वह कर्ज़ लेता है, पर उसे चुका नहीं पाता। शायद वह अच्छी तरह जानता है कि मूल रकम से कई गुना अधिक दे चुकने पर भी उसका कर्ज़ कम नहीं होता। ग्रामों में फैले हुए सूदखोर जोंकों के शोषण का वह अभ्यस्त हो चुका है। अपनी गाय, बैल, बछड़ों आदि को बेच देने पर भी वह इससे छूट नहीं पाता। इसी अनुभव को कड़वे घूंट की तरह गले से नीचे उतार कर कोई किसान कवि कहता है—

थे करजो सिर मत करियो, श्रो मन भरिया।
थे करजो भोत बुरो छे, श्रो मन भरिया॥

भारतीय निम्न-वर्ग के गीतों में क्रमश: परेशानियों से पीड़ित मानवता के मूल में विद्रोहात्मक चिनगारियां सुलगने लगी हैं। अहीरों, कहारों, धोबियों, चमारों और भिखारियों के गीतों में गरीबी की अभिव्यक्ति अधिक तीव्र होकर आयी। अहीरों के नाच तो गीतों से ही मुखरित होते हैं। उनका गाना वास्तव में श्रम को घटाने का बहाना-मात्र है। उसमें बिरहे अधिक गाये जाते हैं। ऐसे बिरहों में कठोर श्रम में व्यस्त मानव की लालसाएं अपने में ही कसमसाती हुई कण्ठों पर आती हैं। निश्चय ही उनमें जीवन की मजबूरियां होती हैं।

छत्तीसगढ़ी गीतों में 'बांस गीत' में, जो कि रावत जाति का अपना गीत होता है, भूख का प्रश्न हल करने के लिए एक किसान की पत्नी अपनी बकरी, भेड़ और वगार की भैंस बेचने के लिए प्रस्तुत होती है। उसका पति कहता है—"मैं बकरी न बेचूंगा, भेड़ नहीं बेचूंगा। दूध-दही बेचकर जी लूंगा और तुझे बेच डालूंगा।"

छेरी न बेचौं भेड़ी न बेचौं
न बेचौं भैंसी बगार
मोले सही में हम जी जावो
श्रौ, बेचौं तोहूला बलाया।

यह ऐसी परिस्थिति का चित्र है जो भारतीय निम्नवर्गीय घरों में कहीं-कहीं उपस्थित होती रहती है। निश्चय ही लोकगीतों के पुराने भोलेपन को जीवन के सत्यों ने बड़ी ठेस पहुँचाई है, पर यह सत्य नये जीवन का कवित्व अपने अन्तर में छिपाये हुए हैं। कठोर धरती को फोड़ कर नया अंकुर जिस प्रकार एक पेड़ की शक्ल में बड़ा ही फल देता है, ठीक उसी तरह इन्हीं सचाइयों पर नये जीवन के प्रभात में लोकगीतों में नया सौन्दर्य आएगा।

नयी करवट

लोकगीतों में इधर नयी चेतना तेजी से प्रगट हुई है। स्थितियों में परिवर्तन हुआ है। किसान कर्ज़ के भार से छूट रहा है। बेगार पर प्रहार हुआ है। नयी आस्था का स्वर पैदा होने लगा है। लोकगीतों में इनके भाव-बिन्दु आने लगे हैं। एक बंजारा गीत में, जिसे मैंने कुछ साल पहले दिल्ली के ताल कटोरा मैदान में रेकार्ड किया था, एक लड़की दूसरी लड़की से पूछती है कि तू दिल्ली में क्यों आयी है? लड़की जवाब देती है—"मैं इन्दिरा गांधी से मिलने आयी हूँ।"

"इन्दिरा गांधी से मिल कर क्या करेगी?"
"उनसे अपने मन की बात करूंगी।"
"तू मन की क्या बात करेगी, भला बता तो?"
"मैं उनसे मन की बात कहूंगी कि गरीबी के फंदे काट दें।"

———

शृंगार के विविध रूपों का दर्पण
पंजाबी और डोगरी टप्पा

—रामनाथ शास्त्री

'टप्पा' पंजाबी लोक-संस्कृति की एक बड़ी मार्मिक थाती है। वहां के जन-जीवन में इसकी लोकप्रियता व्यापक भी है और गहरी भी। हिन्दी काव्य में इसका समकक्ष दोहा छन्द है, विशेष रूप से रीतिकालीन दोहा जिसमें रीति, नीति तथा भक्ति की त्रिधारा अपने विशिष्ट रूप में प्रवाहित हुई है। कविवर विहारी के दोहों के विषय में प्रचलित यह कहावत—

सतसइया के दोहरे ज्यों नावक के तीर,
देखन को छोटे लगें, घाव करें गंभीर।

पंजाबी टप्पों के विषय में भी सत्य ठहरती है। विहारी जैसे रीतिकालीन सिद्धहस्त काव्य-शिल्पियों के दोहों में और पंजाबी तथा डोगरी के टप्पों में वही अन्तर है जो बागों में कुशल माली की देख-रेख में पले फूलों और वन्य घाटियों में स्वच्छन्द खिलने वाले फूलों में है। दोहे की रचना में मात्रा, यति और तुक आदि सभी अंग पिंगल के अनुशासन मे बन्धे रहते हैं, लेकिन 'टप्पा' केवल अपनी लय के अनुशासन में रहता है। टप्पा छन्द में भी दोहा के समान विविध विषयों की अभिव्यंजना हुई है, लेकिन आज हमारा विषय टप्पे में केवल शृंगार का चित्रण देखना है।

इस विवेचन में हम टप्पे के डोगरी-पहाड़ी रूप की भी चर्चा करेंगे। डोगरी-पहाड़ी टप्पा, प्रचार-प्रसार में पंजाबी टप्पे की समता नहीं करता, लेकिन डोगरी-पहाड़ी लोक-साहित्य में टप्पा छन्द की रचनाएं उपलब्ध हैं।[1]

---

१. कांगड़ा (कला, देश और गीत) सम्पादक : श्री एम० एस० रन्धावा (पृष्ठ ४११)

पंजाबी टप्पा तथा डोगरी-पहाड़ी टप्पा की रचना में जो अन्तर है वह यह दिए गए उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगा। सामान्यतया पंजाबी टप्पा दो चरणों की रचना है। दोनों चरण किसी एक तीव्रानुभूति की अभिव्यंजना करते हैं, जैसे—

ऐवें दो कलबूत बनाए
तेरी मेरी इक जिन्दड़ी

× × ×

जेहड़े मिट्ठियां जवानां वाले
मतलब कड्ढ लैन गे।

× × ×

जागो जागो ज़िमीन्दार भरावो
लागियां ने रब्ब लुट्टिया।[2] (इत्यादि)

इन टप्पों में दोनों चरण (पंक्तियां) मिलकर एक प्रतिक्रिया को वाणी देते हैं, लेकिन डोगरी-पहाड़ी (कांगड़ी) टप्पा की रचना पंजावी "माहिया" नाम की लोक-रचना से मिलती है। पंजाबी माहिया का रूप इस तरह है—

चिड़ियां वे वार दियां—
रज्ज के नां डिट्ठियां वे, अक्खीं सांवल यार दियां।

× × ×

सोटी दे बन्द काले—
आखीं मेरे माहिये नूं—लग्गी यारी दी लज्ज पाले।

'माहिये' में पहला चरण, दूसरे दोहरे चरण को केवल 'तुक' का संगीत प्रदान करता है, अन्यथा उसकी कोई सार्थकता नहीं होती। और डोगरी-पहाड़ी टप्पे की यह रचना देखिये—

नीले पाणिये दी टांकी बगदी,
दस बो रुपइए लेई लै—बखा देखने जो बांकी लगदी

× × ×

पत्ता सैल्ला ऐ झरोखे रक्खोरा,
देखिया बेइमानी करदा, दिल तेरे भरोसे रक्खोरा !

'माहिया' और 'टप्पा' दोनों छन्दों में इस अन्तर के रहते भी इनकी भाव-प्रकृति में अत्यन्त साम्य है।

---

२. पंजाबी लोकगीत (प्रकाशक : साहित्य अकादमी, नई दिल्ली)

आइये, अब पहले पंजाबी टप्पे में अभिव्यक्त रति भाव के विविध रंगों के चित्रों को देखें-परखें। प्यार-प्रीति के अनेक सहज रूप इन टप्पों में अंकित मिलते हैं, क्योंकि पंजाब के जन-जीवन का, वे सभी रूप सहज अंग हैं। इनमें यदि एक ओर स्वच्छन्द प्यार की गूंज है तो दूसरी ओर विवाह-बन्धन में बन्धे पति-पत्नी के सन्तोष-असन्तोष का स्वर भी है। जैसे—

चिट्टे चौल जिन्हांने पुन्न कीते
रब्ब ने बनाइयां जोड़ियां।

अनुरूप जीवन-साथी मिल जाएं तो जीवन में जो सन्तोष उपजता है, उसी का सूचक है यह टप्पा। —"जिन्होंने पूर्व-जन्म में सफेद चावल दान किए हों, रब ऐसी 'जोड़ी' उन्हीं की बनाता है।

सस्स मर गई, नणान सौहरे तुर गई,
आपां दोवे मेले चलिये।

—सास मर गई है और ननद अपने पीहर चली गई है। चलो, अब हम दोनों मेला देखने चलें।

वेखो, वगदियां प्रीत-चनावां,
वेहड़े सज्जनां दे।

—प्रियतम के आंगन में प्यार की नदी का यह बे-रोक प्रवाह भी सुखी दाम्पत्य जीवन का ही प्रतीक है। लेकिन गृहस्थ जीवन में ऐसा सुख-सन्तोष सभी को नसीब नहीं होता। जिन्हें बेमेल साथी मिलते हैं उनका विद्रोह भी इसी तरह मुखर हो उठता है।

अग्ग लाके फूक देआं गहने
बापू मुंडा तेरे हान दा!

—मैं इन गहनों को आग लगा कर जला दूंगी, ऐ बापू! मेरे लिए तूने जो वर ढूंढा है वह तो तुम्हारी ही उम्र का है।

इसी तरह काले रंग के 'मुंडे' का प्रत्याख्यान भी बड़े तीखे रूप में व्यक्त हुआ है—

१. **काला अन्दर बाड़ेया—मेरा डंगर-बच्छा डरेया!**

२. **बावल मेरे कन्त स्हेड़िया**
रंग तवे तों काला!

३. **काले कोल मंजा नईं डाह्ना**
लिश्के ते पै जाऊ बिजली

४. गोरा रंग डब्बियां विच आया
कालेयां नूं खबर करो !

एक ओर यह विद्रोह और असन्तोष इस तरह मुखर हुआ है तो दूसरी ओर गृहस्थ-जीवन की मर्यादा को इस असन्तोष के धक्के से बचाने के लिए माता-पिता अपनी बेटियों को यह सीख भी देते हैं कि—

१. भावें होवे कंबली तों काला
निन्दिये ना मालक नूं।

२. पुत बड्डेयां घरां दे काले
देखीं धिए, निन्दना नहीं !

१.—पति चाहे काले कम्बल जैसा कृष्ण-वर्ण ही क्यों न हो, उसकी निन्दा उचित नहीं ;

२.—बड़े (खाते-पीते) घरों के लड़के (प्रायः) सांवले रंग के होते हैं, ऐ बेटी, उसके रूप की कभी आलोचना मत करना।

पंजाब के गृहस्थ-जीवन की इसी बे-तकल्लुफी के दो चित्र और देखिये। पति अपनी प्रेयसी के अरमान पूरे करने के लिए छाती ठोंकता है—

तैनूं लै दऊं सलीपर काले—भावें मेरी मींहि बिक जे !

और कहीं पति, प्रेयसी के इन अरमानों के प्रति उदास हों तो 'प्रेयसी' ही उसे कचोटती है—

लोकी पहनन वलैती टोटे—फूकां फुलकारी नूं

लेकिन टप्पों में जहां-जहां 'ध्वनि' का सहज प्रयोग हुआ है वहां उनकी पैठ जीवन के अन्तरंग तक और भी गहरी और पैनी हो उठी है, जैसे—

रांझा कहील के पटारी विच पाया,
इस हीर बंगालन ने !

पंजावी लोक-जीवन के सुपरिचित प्रेमी युगल—हीर-रांझा के माध्यम से कैसा व्यंग्यपूर्ण शब्दचित्र यहां प्रस्तुत किया गया है ! हीर ने भी रांझे को अपने प्यार के रंग में इस तरह रंग लिया था कि वह लोक-परलोक दोनों से बे-न्याज़ हो उठा था। लेकिन इस टप्पे के हीर-रांझा, उस ऐतिहासिक प्रेमी-युगल के समान अभिनन्दन के पात्र नहीं हैं। यहां तो नायिका को गौड़-बंगाले की जादूगरिनी कहा गया है जिसने किसी 'रांझे' को प्यार के जाल में बान्ध कर

विवश कर रक्खा है। एक और स्थिति-चित्र देखिये। नायिका, किसी को दो रुपए मज़दूरी के देने लगी, तो वह कहने लगा—

दुश्रा मोड़ के जेब बिच पा लै—इक्को तेरा लक्ख वरगा !

तेरा एक (रुपया) भी लाख के बराबर है, दूसरा अपनी जेब में रख ले। इसी तरह का एक और शब्द-चित्र देखिये—

काहनूं दिन्नी एं यक्के दा भाड़ा
घोड़ी तेरे मित्तरां दी !

—अरी सुन्दरी, तू इस इक्के पर सवारी करने का किराया क्यों दे रही है, इसमें जुता यह घोड़ा तो तेरे प्रेमी (यार) का ही है।" इन टप्पों में मित्तर शब्द पति तथा प्रेमी दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है। ऊपर के टप्पे में यदि वह प्रेमी का पर्याय है तो इस नीचे के टप्पे में वह पति के लिए प्रयुक्त हुआ है। विवाह के बाद नवोढ़ा पीहर जा रही है। उसका दूल्हा भी वहीं है। लड़की पीहर जाते समय विलाप कर चुकी तो हौले से पति से बोली—

ऐवें कुड़ियां दा जी परचावां,
रोन्दी नां तूं जाणी मित्तरा ;

—मैं तो सखी-सहेलियों की भावनाओं को रखने का लोकाचार निभ रही थी, तू यह मत समझना कि मैं सच ही रो रही थी। और एक 'मित्तर' को, इस तरह का अनोखा लालच देने का यह शब्द-चित्र देखिये—

श्रड्डी मार के लंगूंगी दर तेरे
झांजरां घड़ा दे मित्तरा !

—तेरे दर (द्वार) के सामने से जब भी गुज़रूंगी तब धरती पर एड़ी को ज़ोर से मारा करूंगी, तू मुझे पैरों के लिए 'झांजर' बनवा दे। स्पष्ट है कि यह 'मित्तर' पति नहीं है। और इस टप्पे का 'मित्तर' भी पति से भिन्न नायक है, क्योंकि इस तरह के मिलन-संकेत पति को नहीं दिए जाते—

मेरी पलके कपाह दी वारी
बन्ने-बन्ने श्रामीं मित्तरा !

—कल खेत में कपास के फूल चुनने की बारी मेरी है। तू खेत की मेंढ के रास्ते, उधर से गुजरना !

और इस टप्पे की नायिका के इस अनुरोध के बारे में आप भला क्या सोचेंगे ?—

तेरे लगदे ने बोल प्यारे
चौकीदारा लै लै मित्तरा !

—चौकीदार बन कर मित्तर, रात को सभी जगह घूमेगा, और उसकी आवाज़ नायिका को रोज़ सुनने को मिला करेगी। इस नायिका का यह कौशल सराहनीय है।

मुंडे मर गे कमाइयां करदे
लच्छी, तेरे बन्द ना बने !

मुंडे और लच्छी, तथा कमाइयां और 'बन्द' (हाथों के गहने) कैसे समानान्तर तत्व हैं। प्यार को केन्द्र बना कर बने एक भाव-वर्ग के कैसे हैं ये चार कोण !

कहीं-कहीं, और कभी-कभी कुछ 'दूध के धुले' लोग इस प्यार के अनाचार पर चीखने-चिल्लाने भी लगते हैं, जैसे—

हरजा भरो जजमानो,
कणकां भन्नियाँ दा !

अरे यजमानो (भलेमानसो !) हमारे खेत की कनक की फसल जो टूट-फूट गई है, उसका हर्जाना भरो। इस उक्ति में भी थोड़ी पर्देदारी से काम लिया गया था लेकिन, इस अगले टप्पे में तो उस पर्देदारी को भी जैसे तार-तार कर दिया गया है—

कुड़ी अपनी सांभ के रक्खो,
कणकां इन्न भन्न सट्टियां !

—अरे, अपनी जवान लड़की को सम्भाल कर रखो, इसने हमारे खेत की कनक की फसल तोड़-फोड़ दी है। इसी तरह का एक टप्पा यह भी है—

गोरा रंग ना गवा लईं कुड़िये,
लालच लड्डुआं दे !

—ऐ लड़की, लड्डुओं के लालच में अपना यह गोरा रंग न लुटा बैठना ! लेकिन इसी बात को और भी नंगा करके कहा गया है इस टप्पे में—

तेरी तोर पट्टेया पटवारी,
तूं पट्टी लड्डुआं ने !

—तेरी चाल ने पटवारी को लूट लिया, और लड्डुओं के लालच ने तुम्हें लूट लिया। लेकिन कभी-कभी तो लड्डुओं का यह लालच ही नायिका को बांवरा बना देता है और वह पुकारने लगती है—

कितों बोल पुरानेया यारा,
लड्डुआं नूं चित्त करदा।

ये टप्पे इस लिए महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इनमें लोक-मानस की अन्तरंग गहराइयों के बेबाक चित्र प्रस्तुत किए गए हैं। ध्वनि-संकेतों के कारण उनकी काव्य-कलात्मकता में गहराई आ गई है। पंजाबी लोक-साहित्य का, ये टप्पे बड़ा विशिष्ट अंग हैं। इसी श्रेणी में आते हैं वे टप्पे जिनमें प्रतीकों के प्रयोग के कारण असाधारण मार्मिकता आ गई है। जैसे—

जदों जाल फांदियां ने पाया
नैन भर रोई मछली।

—निरीह मछली, माहीगीरों के जाल में फंस गई तो रोने लगी। भोली नायिका के लिए निरीह मछली का प्रतीक कितना सहज लगता है। और 'फांदियों' द्वारा जाल फैलाने के प्रतीक में कपटपूर्ण लम्पटता का जैसे अनावरण हो गया है।

जे मैं जानदी तिलां ने डुल्ह जाना,
साम्ब साम्ब बुक भरदी !

—ये कैसे तिल हैं जो अपनी ही अजुरी से गिर-गिर गए हैं ! अल्हड़ रूप और अनुभवहीन यौवन इसी तरह क्या-क्या खोता है और फिर पछताता है।

कौढ़ी निम्म नूं पतासे लगदे
बेहड़े छड़िआं दे !

—निठल्ले कंवारों के आंगन में कड़वी नीम को भी बताशों के मीठे फल लगते हैं ! है न आश्चर्य की बात। इन बताशों के लालच में न जाने कौन भोला पक्षी इस पर आ बैठेगा !

तोता पी गिआ गुलाबी रंग तेरा,
निम्म नाल झूटदिये !

—ऐ नीम के वृक्ष पर डाले गए झूले को झूलती सुन्दरी, तेरे गुलाबी रंग को तोता पी गया है। नीम आंगन में है और तोता परदेसी है, आता है और उड़ जाता है।

दीपो जट्ट ने सन्दूकड़ी आन्दी
बिचों बोले बन्तो बाह्मणी ।

—जाट की चतुराई खुल गई है, वह जिसे सन्दूक में बन्द करके लाया था उसको सभी ने जान लिया है । लेकिन बन्तो बाह्मणी तो स्वेच्छा से ही दीपो के सन्दूक में बन्द हुई थी ।

और कहीं-कहीं सुन्दर अलंकार इन प्रतीकों का स्थान ले लेते हैं, जैसे—

मेरी सुन्दरां चम्बे दी माला,
दिल बिच रहे महकदी !

या फिर :

दिल दे आल्हड़े आँडा,
धी सुन्याराँ दी !

—सुनारों की लड़की, प्रेमी के मन रूपी नीड़ में रखे हुए अडे की तरह है ।

पंजाबी टप्पे के दर्पण में शृंगार के ये विविध भाव-चित्र आपने देखे, अब आइये इसी दर्पण में डोगरा-पहाड़ी लोक-जीवन में प्यार-प्रीति के कुछ चित्र देखें ।

हरी चोली लोक दिखदे,
अक्खीं दा शारा जानी जा,
जीभा ते निं बोली सकदे ।

ऐसे टप्पों में पहला चरण प्रायः निरर्थक होता है । कथ्य की भाव-सुषमा बाद के छन्द में रहती है । पहला चरण डोगरी टप्पे की लय को केवल संगीत की रंगत प्रदान करता है । गाए जाने में इस चरण का भी योगदान है ही । इस टप्पे में नायिका अपनी मजबूरी व्यक्त करती है : —

—(हरी चोली को लोग देखते हैं), ऐ प्रियतम, तुम मेरी आंखों की भाषा को पढ़ लो क्योंकि हम मुंह से बोल नहीं सकते ।

पंजाबी टप्पों के लिए यह अनजाना विषय है । पंजाबी टप्पों में नायिका की प्रौढ़ उक्तियां और डोगरी टप्पा में नायिका का यह संकोच, दोनों अपने लोक-जीवन की विभिन्न परिस्थितियों को सूचित करते हैं ।

इधर प्रेम स्वच्छन्द रह कर फलना-फूलना चाहता है, उधर सामाजिक अनुशासन उसकी इस स्वच्छन्द प्रवृत्ति पर अंकुश लगाना चाहता है । हमारे

इन पहाड़ों में प्यार की ऐसी कई दास्तानें लोक-कवियों ने गीतों में पिरोई हैं, जिनमें प्यार ने चुनौतियों और धमकियों से त्रस्त होने से इन्कार किया है। कुंजू इन्हीं पहाड़ों का एक मामूली सिपाही था। उसकी प्रेयसी चंचलो राजा के महलों की दासी थी। दोनों के स्नेह ने उस शाही दुर्ग की दुर्भेद्य दीवारों की बाधा को परास्त कर दिया था। चंचलो ने कुंजू को सावधान किया था—

रातीं मत आन्दा कुंजुआ !
पंज भरियां बन्दूकां ओ।

—ऐ कुंजू तू रात को मुझे मिलने मत आना। तेरी हत्या करने के लिए राजा के पांच सिपाही बन्दूकें लेकर क़िले के पास छिपे बैठे हैं। लेकिन कुंजू उस रात भी चंचलो से मिलने आया था। कुंजू के निर्भीक प्यार की परम्परा के साक्षी हैं ये कांगड़ी टप्पे। नायक प्रेमी प्यार की इस डगर पर चलने के खतरों से परिचित है लेकिन—

फुल्ल खिड़ी पे हरी डंडिया,
मरने थों होर डरदे—असां लड़ना तलोआरां नंगिया !

इधर पहाड़ी नायिका भी इन खतरों से वेखबर नहीं, लेकिन

चिट्टा कुर्त्ता सलवारी कणे
लग्गा दिल नईं मुड़दा—
भाएं बड्डो तलवारी कणे !

— मन का सच्चा प्यार बाधाओं से हारता नहीं, चाहे उसे तलवारों के प्रहार ही क्यों न सहने पड़ें।

डोगरा पहाड़ी जीवन में पंजाब की धरती जैसी सम्पन्नता नहीं, और उस सम्पन्नता से जन्म लेने वाली उद्दंड वासना नहीं। वहां तो :

रोन्दिया छड्डी वो गेया,
चिट्ठी लिखी कुत्थें पानी हो,
जन्दी बारी दस्सी निं गेया !

लेकिन जो 'जाने वाला' मज़दूरी की तलाश में परदेस गया है वह बेचारा अपना पता-ठिकाना कैसे बतला जाता ! हां, वह जल्दी लौटने का 'करार' अवश्य कर गया था, लेकिन इन दिलासों के सहारे प्रतीक्षा की विषम घड़ियां सहज कैसे हो जाएं ?

चिट्टे कपड़े सीयै दरजी—
लम्मड़े करार देश्रोरी,
हुन मिलने री होई मरजी !

उसके लम्बे आश्वासनों को क्या करूं, उसे तो इसी घड़ी मिलने को मन बेचैन हो उठा है। तरुणाई के कोमल प्यार के लिए विरह की ये घड़ियां दूभर हो उठती हैं,

घड़ा भरना हो, धोई-धोई के
दिन कम्में-काजें कट्टनीं,
रातां कट्टनीं रोई-रोई के !

दिन के समय तो घर के काम-काज में विरह वेदना दबी रहती है लेकिन रात के सूनेपन में यह दर्द रुला-रुला जाता है।

डोगरी टप्पों में 'संयोग' के चित्र बड़े दुर्लभ हैं। जो हैं उनकी सरलता पहाड़ी स्वभाव की ही प्रतीक है। जैसे—

श्रग्ग बली ऐ, सेकना दे,
जड़ी मेरे करमें लिखी—
उस बांकिया जो दिक्खना दे।

इस टप्पे का पहला चरण भी सहज ही अर्थपूर्ण हो उठा है।

—जलती आग को सेकने दे, जो मेरे भाग्य में लिखी है उस बांकी सूरत को मुझे देखने दे। प्यार का अधिकार कितनी सरलता से याचना में ढल गया है।

भोला डोगरा पहाड़ी प्रेमी, अपनी प्रेयसी के रूप को सराहने के लिए काव्य-मय शब्द ढूंढ नहीं पाता। उसकी 'सराहना' लाखों के मूल्य की कल्पना में ही गदगद हो जाती है—

हरा रंग तेरे बंगुश्रां दा,
इक लक्ख श्रक्खियां दा—
दो लक्ख तेरे दन्दुश्रां दा !

—तेरी कलाई पर (कांच की) चूड़ियों का रंग हरा है। तेरी आंखों का मूल्य एक लाख (रुपए) है और तेरे दान्तों का मूल्य दो लाख है।

नायिका अपने रूप की इस तरह की प्रशंसा का रहस्य समझती है, लेकिन संकोच को छोड़ कर, इन उन्मुक्त क्षणों में, अपने प्रेमी के मन की 'बेईमानी' को किस चतुराई से जगा देती है, इसे इस टप्पे में देखिये—

पत्ता सैल्ला ऐ झरोखे रक्खो रा,
देखिया बेइमानी मत करदा,
दिल तेरें भरोसे रक्खो रा !

—हरा पत्ता झरोखे में रखा हुआ है, देखना कोई वेईमानी मत करना, मैंने (अपना) दिल तेरे भरोसे रख दिया है। दिल जिसके भरोसे रख दिया है, उसे ही 'वेईमानी' करने की याद दिलाने का यह कैसा चतुर ढंग है ! और कभी-कभी इस 'वेईमानी' की व्याख्या भी कर दी जाती है, जैसे—

खाना, पीना बो नन्द लैना,
ओ घमारुआ ! भरियै चिलमा दम लाना !

इससे अधिक उस जीवन की और सार्थकता क्या होगी जो जीवन एक जगह टिक न सकने के लिए विवश है, अभावों से अभिशप्त है।

फुल्ल फुल्लिया समेत डंडिया,
अज्ज गंगी, कोल तेरै,
कल जाना ऐ सुकेत-मंडिया !

× × ×

तेरे घड़े दा बिल संघड़ा,
अज्ज मिली जायां छोरिये,
असें टप्पी जाना कोट कांगड़ा।

दोनों टप्पों में घर छोड़ कर काम के लिए, अन्यत्र चले जाने की विवशता की बात कही गई है।

डोगरा-पहाड़ी जीवन में प्यार की एक और भी लाचारी है—प्यार के विषय में दुस्साहस का अभाव।

धान बाणा तै पशु निकले
साम्हने न आयां छोरिये,
म्हारी अखियें चा आंसू निकले !

—बैल, धान के खेतों को तैयार करने के लिए निकले हैं, ऐ गोरी, मेरे सामने मत आना, (भावी विछोह की कल्पना से ही) मेरी आंखों से आंसू निकल पड़े हैं।

इनें धारें परा पाला गलीदा,
जलै तेरा रूप गोरिये,
स्हाड़ा दिक्खी करी जीऊ जलीदा।

—पहाड़ों पर बर्फ पिघलने लगी है, ऐ गोरी, तेरा यह रूप जल जाए, इसे देखकर मेरा जी जल गया है। कितना असमर्थ है यह प्यार, जो अपने आराध्य रूप के लिए ही अशुभ की कल्पना करने लगता है!

मेरे दिलड़ू जो दुख दित्तू रा,
बाटा ते किनारे हटी जा,
म्हारा खून तूं बथेरा पीतू दा!

—तूने मेरा जी जलाया है! मेरे रास्ते से दूर हट जा, तूने मेरा, जी भर कर, रक्त पीया है। प्रेम निराश होकर जैसे उन कोमल धागों को ही तोड़ देना चाहता है।

कहीं-कहीं लोभ-लालच से काम लेने वाले आतुर प्रेमी (जो धूर्त भी हो सकते हैं) का रूप-चित्र देखिये—

कोठे पर वेल्लां झुल्लियां
मोती जैसे दन्द गोरिये
सुन्ने दियां घड़ाई देग्राँ फुल्लियां

तेरे घर की छत्त पर बेलें झूल रही हैं, तेरे दान्त मोतियों जैसे हैं, आ इनके लिए सोने के कील बनवा दूं।

कई टप्पों में अलंकारिक उक्तियों की छटा भी उभर आई है, जैसे—

पानी भरी लैना गागरू कणे,
सिड़कां रे मोड़ टुटी गे,
तेरे हरे-पीले चादरू कणे!

—पानी गागर से भर लेना, तेरी चादर के हरे-पीले झलकारों ने सड़क के मोड़ों को भी घायल कर दिया है (बेचारे 'गभरुओं' के मन की दशा का तो कहना ही क्या!)

डोगरी-पहाड़ी टप्पों में भावाभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त शब्दों की कमी व्यंग्य को भी प्रायः धुंधला कर देती है, जैसे—

गड्डी ग्राई री खडे वो खडे
मेले री जलेबी खादी री
हुन निकली हडे वो हडे!

—गाड़ी नाले के साथ-साथ होकर आई है, अरी, यह मेले में खाई हुई जलेबी ही है जो अब तेरी हड्डियों में से निकल रही है। रूपसी नायिका ने चढ़ते यौवन में, अपने चाहने वालों से जो क्रीड़ाएं की हैं, अब यौवन ढल जाने पर दुर्बल देह की पीड़ाएं उसी का परिणाम हैं। लेकिन जहां कहीं निच्छल प्यार की विकलता को सरलता से भी अंकित किया गया है, वहां सहज ही एक मार्मिकता मन को छू लेती है, जैसे—

बागां बिच कूकदे मोर,
उच्चे पर्वत रिमझिम बरखां,
तेरी याद आई बड़े जोर !

—बागों में मोर बोलने लगे हैं, ऊंचे पहाड़ पर रिमझिम वरखा बरस रही है। ऐसे में तेरी याद बड़े जोर से आई है। इस 'बड़े जोर' का जवाब नहीं।

कभी-कभी कोई 'सयानी आवाज़' मनचली तरुणाई को उसकी भूल सुझाने का यत्न करती है, जैसे—

घड़ा भरना ई धोई-धोई के,
ए तां नार बगानी छोरुआ,
कैसी मरदा तूं रोई-रोई के !

—अरे छोकरे, तू जिसके लिए जी हलकान कर रहा है वह तो 'पराई' नार है।

किसी ऐसी ही स्थिति की चुनौती पा कर स्नेह जब आत्म-रक्षा का मार्ग खोजता है तो लोक-कवि उसे वाणी देता है--

फुल्ल फुल्ली के सुक्की वो गेया,
चल गंगी नस्सी चलचै, इत्थें अन्नजल मुक्की वो गेया !

—जो फूल खिले थे, वे अब सूख गए हैं। चल गंगी, यहां से भाग चलें, इस जगह अब हमारा दाना-पानी समाप्त हो गया है। लेकिन जब गंगी इस साहस-पूर्ण यात्रा पर चलने से डर जाती है तो प्यार में असमर्थ 'दुस्साहस' की लाली भर उभरती है—

कन्ध भज्जी जानी चेई-चेई के
इक बारी मिल गगिये, चाहे मारी दें जहर देई के !

—यह दीवार लगातार पानी टपकने से गिर जाएगी। ऐ गंगी, तू एक बार मिल, फिर चाहे अपने हाथ से जहर ही दे दे।

डोगरी टप्पों में उस प्यार की रंगत बड़ी तीखी लगती है जहां वह, जात-बिरादरी की रोक-रुकावटों को ठोकर लगाने का यत्न करता है, जैसे—

पाणी भरी लैणा डूंगे नालुए
जाति दा क्या पुच्छना, भत्त खाई लैणा इक थालुऐ

—गहरे नाले से निर्मल पानी भर लो। जब एक ही थाली में भात खा लिया तो अब जाति क्या पूछते हो ?

मियां बैठा बान्दरें दे पैह्रे,
चमैरी मैणा फुलके बना।

मियां जी बन्दरों से (मक्की की) फसल की रक्षा करने बैठे हैं और अन्दर चमारी मैणा भोजन बना रही है।

इस तरह आप पाएंगे कि पंजाबी तथा डोगरी टप्पों में केवल रचना-शिल्प की दृष्टि से ही अन्तर नहीं है अपितु दोनों के भाव-चित्रों में भी खासी भिन्नता है। यह भिन्नता दोनों प्रदेशों के लोक-जीवन की भिन्नता के कारण है। लोक-कवियों ने दोनों प्रदेशों में जैसा देखा, जैसा अनुभव किया, वैसा ही शब्दों में बान्धने का यत्न किया। इस प्रयास में दोनों प्रदेशों के लोक-कवियों को, कितनी सफलता मिल सकी है, उसी की एक झलक यहां प्रस्तुत की गई है।

———

नदी, नाव, मांझी और कश्मीरी लोक जीवन

—शशि शेखर तोषखानी

नदी और नाव का पूर्वैतिहासिक उषाओं से ही कश्मीरी लोक जीवन से एक अभिन्न-अछिन्न सम्बन्ध रहा है। घाटी के एक छोर से दूसरे छोर तक प्रवाहित होने वाली वितस्ता कश्मीरियों के लिये केवल एक भौगोलिक दृश्य-सत्ता, एक चक्षु-गोचर जल-प्रवाह मात्र नहीं, कश्मीर के जीवन की गति और प्रकृति का, लोक-संस्कृति और लोकधर्म का चैतन्य प्रतीक है। अपने बहाव के अधिकांश मार्ग पर वह एक धीर-शांत-सौम्य धारा है, उद्दाम-उन्मत्त-उच्छृंखल-क्रुद्ध प्रवाह नहीं। कम से कम अपने उदगमस्थल वेरीनाग से लेकर बारहमुला से कुछ आगे तक—कश्मीर में प्रचलित उक्ति के अनुसार 'खन्नाबल से खन्दनयार तक'—उसका यही सवत्सा-धेनु-सा स्वरूप है जिसके सामने कश्मीरी मन आदिम युगों से नत होता आया है। उसके साथ भय या आतंक का भाव नहीं, शांत-सहज मन से अपनी दिशाएं, अपनी नियति स्वीकारने का भाव जुड़ा है। इसी नदी में बहुत कुछ ऐसा है जो एक कश्मीरी के रक्त में, स्वभाव में उतर आया है—मानो यह केवल बाहर ही नहीं भीतर उसकी चेतना की गहराइयों में भी कहीं प्रवाहित होती है। अन्याय को, अनाचार को मौन सह लेने की हद तक भी वह प्राय: अनुत्तेजित और धैर्यवान रहा है। उत्तेजित वह यदा-कदा हुआ भी हो पर अधिकतर उस सीमा तक नहीं कि उत्तेजना उग्र क्रिया का, प्रतिहार का रूप धारण कर ले। यही कारण है कि मंगोल और हूण, मुग़ल और यवन शताब्दियों उसकी पीठ पर सवार रहे हैं। लेकिन प्लवन समय की क्रुद्ध वितस्ता की ही भांति जब भी अन्याय, आतंक, क्रूरताओं की अति से विक्षुब्ध हो उसके मन में धैर्य के सभी तटबन्धों को तोड़ता हुआ विद्रोह का ज्वार जागा है, इतिहास को अपनी दिशा बदलनी पड़ी है।

नदी के साथ-साथ पहाड़ ने भी एक कश्मीरी के स्वाभाव को, व्यवहार को निर्मित-निर्धारित किया है ; उसके विश्वास-विचार, कला-दर्शन, धर्म-संस्कृति सबको बहुत कुछ प्रभावित-प्रेरित-परिभाषित किया है। पहाड़ ने उसके चरित्र को एक विशेष गरिमा से मंडित किया है, उसकी विचार-दृष्टि को एक बौद्धिक-ऊर्ध्वोन्मुख भंगिमा प्रदान की है। लेकिन साथ ही बाह्य संपर्क और प्रभावों के प्रति उसे कुछ सशंक भी बनाया है। यही कारण है कि बाहरी आदमी को कश्मीर में प्राय: संदेह की दृष्टि से देखा जाता रहा है। वह सैलानी के रूप में यहां आये, यहां की वर्णनातीत प्राकृतिक छवियों को छक कर आंखों-आंखों पी ले—स्वागत है—लेकिन उससे अधिक वह यहा की ि न्दगी में खलल न ही डाले तो अच्छा—"और न बिलमो, जाओ !" इसके बावजूद पर्वतों के पार से यहां प्रभाव आये हैं, यहां के जीवन, संस्कृति, विश्वासों को रौंदते हुए और अनेक स्तरों पर मूल को उन्मूलित कर उसके स्थान पर दृढ़ता से प्रत्यारोपित भी हुए हैं। लेकिन इन्हीं पहाड़ों से प्रवाहित रक्तवाहिनी नाड़ियों-सी फैली हुई शत-शत जलधाराओं ने इन प्रभावो को भी यहां की हवा, यहां की मिट्टी के अनुकूल नया रूप दिया है।

कश्मीर के अधिकांश जल-मार्ग नौकानयन के लिये काफी अनुकूल और सुगम रहे हैं। अत: सभ्यता के प्रथम प्रभात से ही उनकी चपल जल-लहरियों पर नौकाएं दोलायमान रही हैं। यहां के प्राचीन लोक-धर्म और लोकजीवन के प्रथम आलेख, नीलमत पुराण में आयी एक कथा के अनुसार वैवस्त मनु के काल में जब जल-प्रलय हुई तो स्वयं पार्वती ने एक नौका का रूप धारण किया और इन्द्र ने मत्स्य का। मत्स्य-चालित यह विचित्र नौका भावी जीवन और संस्कृति के बीजों को वहन करती हुई कश्मीर के एक पर्वत-शिखर से जा लगी जिसका नाम ही नौबन्धन पड़ा। प्रलय-जल के अवसान के बाद भी कश्मीर शताब्दियों तक सतीसर नाम की एक विशाल झील बना रहा जिसमें सती नौका विहार किया करती थीं। कश्यप-ऋषि के प्रयत्नों से बारहमुला (कश्म० वरेमुल सं० वराह + मूल) के पास पर्वतीय चट्टानों के काटे जाने पर पानी बह निकला और भूमि उभर आयी जिस पर मनुष्यों ने वास करना शुरू किया। जल के उदर से भूमि के उद्धार की यह मिथक-कथा एक वास्तविक भौतिक तथ्य की स्मृति को सुरक्षित रखे हुए है। ऊंचे पठारों पर, जिन्हें 'करेवा' कहा जाता है, जल के सिंघाड़ों के अवशेष तथा शंकराचार्य आदि पहाड़ियों पर मिलने वाली सीपियों ने भू-वैज्ञानिकों को इसी

निष्कर्ष पर पहुंचाया है कि घाटी का जन्म जल के बीच से हुआ है। आज भी कश्मीर का काफी क्षेत्र झीलों, जलाशयों और नदियों के जाल से ढंका हुआ है जिनके तटों पर यहां अधिकांश लोग बसे हुए हैं।

नीलमत तथा राजतरंगिणी के पृष्ठों में प्रतिबिम्बित प्राचीन कश्मीरी लोकमानस ने कश्मीर की हर भौगोलिक सत्ता को पार्वती से जोड़ा है। वह ही नौका, नदी और नाविक के रूप में पूर्वैतिहासिक धुंधलके में यहां अवतरित हुई है। कथा है कि ऋषि कश्यप की प्रार्थना पर पार्वती ने ही ताप-पापहरा नदी वितस्ता का रूप धारण किया जो शिव के शूलाघात से उत्पन्न एक 'वितस्ति' भर चौड़े गर्त्त से प्रकट हुई जिसे आज वेरीनाग के नाम से जाना जाता है। प्राचीन और मध्यकालीन कश्मीर में वितस्ता नदी, जिसे कश्मीरी 'व्यथ' कह कर पुकारते हैं, का जन्म-दिन एक उत्सव—'व्यथ-त्रुवाह' (वितस्ता-त्रयोदशी)—के रूप में मनाया जाता था। उस दिन वितस्ता की धारा फूलों से अर्चित होती थी, विसर्जित किये गये दीपों की अगनित पांतों से झलमला उठती थी। इस्लाम के आगमन के बाद भी बहुत देर तक यह उत्सव यहां मनाया जाता रहा है। इतिहासकार क्षीवर के अनुसार सुलतान जैनुलावदीन (१४२०-१४२७ ई०) इस उत्सव में विशेष रुचि और उत्साह से भाग लेता था। नदी पूजन की यह प्रथा अब मृतप्राय है—भले ही पौराणिक संस्कारों से युक्त कोई भट्टिनी (क० बटन्य, अर्थात् कश्मीरी पंडित स्त्री) या भट्ट (क० बटु, अर्थात् कश्मीरी ब्राह्मण) उसे फूल चढ़ाये तो चढ़ाये, उसमें देवता का निर्मालय बहाये तो बहाये या फिर विवाह और यज्ञोपवीत के अवसरों पर, या मृत्यु के बाद की रीतियों आदि के अवसर पर प्रथापालन के लिये वितस्ता-तीर पर पूजन या पितर-तर्पण किया जाए। अन्यथा विसर्जन के नाम पर तो उसमें अब नगर भर का कूड़ा ही विसर्जित होता है।

प्रथाएं और कथाएं भले ही भुला दी गयी हों, पर आज भी वितस्ता (और अन्य नदियों) से हर कश्मीरी का गहरा लगाव है—एक ऐसा अनुराग भाव जिसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। शताब्दियों से यहां की जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग जल के वक्ष पर नौकाओं में ही रहता आया है। इन मल्लाह या मांझी लोगों के पास अचल सम्पत्ति नहीं के बराबर है वे पूर्णतया नदी के होकर रह गये हैं। कश्मीरी भाषा में इन्हें 'हान्ज़' कहा जाता है। हिन्दी 'मांझी' शब्द से इसका कोई सम्बन्ध है या नहीं, यह स्पष्ट

नहीं और न यह कि यह शब्द आया कहां से। हो सकता है ध्वनि-विपर्यय के कारण 'मंझ' का 'हंज' हो गया हो या फिर यह मूलतया ऑस्ट्रिक या निषाद भाषा का शब्द हो। नदी के पार ले जाने वाले मांझियों को 'करनाव' कहा जाता है अर्थात् 'कर' या शुल्क लेकर नाव में बिठाकर नदी के पार ले जाने वाला। कश्मीरी भाषा में पार ले जाने के लिये शब्द है 'तारून' जो संस्कृत 'तारण' से विकसित है। 'होंज़' एक जातिवाचक नाम है और इसके अंतर्गत नाव के द्वारा अपनी आजीविका कमाने वाला वह सारा वर्ग आ जाता है जिसमें कुंजड़े, सिंघाड़ा बीनने वाले, मछियारे, व्यापारिक माल तथा अन्य प्रकार का बोझा लादने वाले सभी लोग शामिल हैं। राजतरंगिणी में इनके लिये 'निषाद' नाम का प्रयोग हुआ है। कश्मीर के बुर्ज़होम (सं० भूर्जाश्रम) नामक स्थान पर किये गये उत्खनन से जो अवशेष प्राप्त हुए हैं, वे भी इस बात की ओर संकेत करते हुए प्रतीत होते हैं कि कभी निषाद या ऑस्ट्रिक जाति की कोई शाखा-प्रशाखा यहां की धरती की प्रथम स्वामिनी थी। जिस उच्छ्वसित कण्ठ से नीलमत पुराण में वितस्ता आदि नदियों की महिमा का गायन और स्तवन किया गया है, वह भी किसी नदी-पूजक जाति के लोगों के आदिवासी होने की बात का साक्ष्य प्रस्तुत करता है। बाद में यह जाति नाग, आर्य तथा कश्मीर में रहने वाली अन्य जातियों के साथ घुल-मिल गयी होगी सांस्कृतिक-सामाजिक-धार्मिक-राजनैतिक स्तरों पर अपने अनेक विश्वास-विचार, आचार-प्रथाएं उस नव-समन्वित समाज को दे गयी होगी जिसे आज हम 'कश्मीरी' पहचानते हैं।

प्राचीन निषाद जाति के संस्कार अब भी कश्मीरी मांझियों से पूरी तरह से धुले-पुंछे नहीं, जो सबके सब कश्मीर में इस्लाम के आगमन के समय से ही मुसलमान बन गये थे। कभी कश्मीर की नदियों-झीलों पर चप्पू और डांड की छप्-छप् की लय पर निषाद-कण्ठ से फूटी नदी-स्तुतियों और नौका गीतों की स्वरलहरी तिरती होगी। आज वह स्वर इतिहास की अजानी गहराइयों में खो गया है। कभी पर्वतराज कन्या पार्वती उनकी अधिष्ठात्री देवी रही होंगी, आज कश्मीरी मांझियों से कोई पूछे तो वे यही कहेंगे कि उनके पूर्व-पुरुष हज़रत नूह हैं। अपना अतीत विस्मृत होने के बावजूद, कश्मीरी मांझियों का मन वही, वैसा ही है—उनका परिश्रमी किन्तु मस्त-मौजी मन और अक्खड़ स्वभाव, उनकी वह आनंदी प्रकृति जिसके कारण उन्हें आज का खाना उपलब्ध हो तो कल की चिन्ता नहीं रहती—यह सब, लगता है, उन्होंने अपने

पूर्वजों से ही ग्रहण किया है। कुछ पुराने विश्वास, अब भी उनके मन में बैठे हुए हैं, चाहे कितने ही धुंधले रूप में क्यों न हों। जैसे, वुलर झील के मांझियों का 'वोलर राज़'—'वुलर राज' से सम्बन्धित विश्वास जो झील में तूफान उत्पन्न करता है, जिसमें फंसी नौकाओं के लिये बचना बहुत कठिन हो जाता है। भले ही आज के मांझी अपने इस्लामीकरण के कारण 'वुलरराज़' को अदृश्य-जिन्न या 'देव' के रूप में कल्पित करें, उसके कोप और कृपा की अनेक कथाएं उनमें प्रचलित हैं जो नीलमत पुराण में वर्णित राजा अश्वगाश्व और उसके द्वारा शासित एक सम्पूर्ण नगर की कश्यप-पुत्र नीलनाग के शाप के कारण जल में समा जाने की कथा के सूत्र को कल्पना के हज़ार-हज़ार रंगीन तंतुओं से आगे बढ़ाने के प्रयत्न हैं। कश्मीरी मांझी आज भी अद्भुत कल्पना-शक्ति से सम्पन्न लोग माने जाते हैं। मनोरंजक कथाएं बुनने में, खुशनुमा झूठ गढ़ने में उनका कोई सानी नहीं—तरह-तरह के किस्से सैलानियों को सुनाकर वे उनका मनोरंजन तो करते ही हैं अपने आर्थिक लाभ की संभावनाओं की भी वृद्धि करते हैं। वस्तुत: जनसम्पर्क कला के ये लोग कुछ इस कदर माहिर होते हैं कि सैलानी अक्सर इनकी बातों पर मुग्ध हुए बिना नहीं रहते और इनके द्वारा तैयार की गयी रपटीली भूमि पर फिसल ही पड़ते हैं।

इन मांझियों की, आज़ादी से पूर्व से, अंग्रेज़ सैलानियों से अपने इन्हीं विशिष्ट गुणों के कारण खूब पटती थी। अंग्रेज़ों या अन्य विदेशियों से बात करने के लिये उन्होंने अंग्रेज़ी की एक अद्भुत व्याकरण-वर्जित शैली का विकास किया है जिसे कश्मीरी में 'हांज अंग्रीज्य' (अर्थात्—मांझियों की अंग्रेज़ी) कहते हैं। "साहब, सलाम, शिकारा वांटेड ?" से लेकर सैलानियों की आवश्यकताओं और कमज़ोरियों, उन्हें खुश रखने के सभी गुरों से सम्बद्ध सम्पूर्ण शब्दावली उस बोली में शामिल है। बातों के, सचमुच, गज़ब के सौदागर होते हैं ये लोग। कश्मीरी भाषा को इन्होंने एक बड़ा सटीक मुहावरा दिया है :—नावि वालुन—नाव में उतारना, अर्थात् किसी को अपनी बातों में लाना।

जाड़ों में, जब काम अधिक नहीं रहता, कश्मीरी मांझियों की कल्पना-शक्ति और भी प्रखर हो उठती है। जाने कितनी कश्मीरी लोक कथाएं कांगड़ी की मन्द सुखद आंच तापते हुए और हुक्का गुड़गुड़ाते हुए मांझियों की कल्पना की उपज हैं। ऐसे ही आरामदेह वातावरण में मांझी के मन का रोमांस-भाव भी जाग उठता है और तब उसे अपनी मांझिन का लावण्य-युक्त

चेहरा कुछ ऐसा नज़र आता है मानो बादलों के बीच अपनी किरणें बिखेरता हुआ चांद। उसके कण्ठ से गीत फूटता है—

ओ मेरी मांझिन,
अंधेरे में चमक रहे रुपहले चांद-सी है तू...
तू मछलियां बेचने को निकली है—
नदी-तट पर अपना यह मुखड़ा
सभी को दिखाती हुई।
री, तू अकेली-अकेली नदी के बीच से मत जा!
ईश्वर से मांग कि वह तुझे पार लगाए,
ओ मेरी मांझिन!

लेकिन शृंगार के मधुर-रस की आलम्बन यह मांझिन अक्सर रौद्र-रूप भी धारण कर बैठती है। कश्मीरी मांझी स्वभाव से ही कुछ बड़बोला होता है और छोटी-छोटी बातों को लेकर तुनक उठता है—उसकी मांझिन इस मामले में उससे भी अधिक तेज़, मिर्च जैसी! बात की बात में रार—भयंकर रार—मच जाती है जो घण्टों क्या दिनों अविराम चल सकती है। प्रहार-पटु और संग्राम-कुशल मांझिन उसे जल्दी ही ठण्डा पड़ने नहीं देती। ऐसे अवसरों पर उसके मुख से बिना किसी विराम, अर्द्ध-विराम के चतुष्वर्णी (Four-lettered) निषिद्ध सरस्वती सभी कूल-कगार तोड़ते हुए फूट निकलती है और ऐसी भयंकर, अनियंत्रित गति से बह चलती है कि थमने को नहीं आती। यदि रात पड़ने तक झगड़ा अपने 'तार्किक-परिणाम' तक नहीं पहुँचा तो एक टोकरा उलट कर रात भर उसे उसके नीचे रखा जाता है। सुबह उठते ही टोकरे को फिर सीधा कर दिया जाता है और युद्ध फिर शुरू। इसीसे कश्मीरी में एक उक्ति प्रचलित हुई है—'पज्य तल थवुन'—झगड़े को टोकरे के नीचे रखना।

इस और ऐसे ही कुछ कारणों से मांझियों को कश्मीर में सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता गो, हर घर की दैनन्दिन आवश्यकताओं की पूर्ति में उसका बड़ा हाथ है। एक किंवदन्ती के अनुसार कश्मीर में सर्वप्रथम नौकाएं लाने का श्रेय सिंहलद्वीप के राजा पर्वतसेन को है जो निम्न वैश्य-जाति के थे। ज़ाहिर है कि यह राजा और उसका सिंहलद्वीप कल्पना लोक की सत्ताएं हैं, पर इतना अवश्य है कि आज भी कश्मीरी समाज में मांझी को निम्न दर्जा दिया जाता है।

नाव मांझी के लिये घर होने के साथ परिवहन और जीविकोपार्जन का साधन भी है। शताब्दियों से कश्मीर के जल-मार्गों पर नौकाओं का यातायात और माल ढोने के कार्य के लिये प्रयोग होता रहा है। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यूएनत्सांग ने, जो ६३१ ई० में कश्मीर आया था, अपने यात्रा-वृत्तांत में अनेक स्थलों पर 'कि-शि-मि-लो' (कश्मीर) राज्य में वितस्ता और उसकी नदियों पर नौ-परिवहन का उल्लेख किया है। अलबरूनी ने भी कश्मीर के जल-मार्गों पर तिरती सवारी और व्यापारिक माल लादने वाली नौकाओं का जिक्र किया है। आज भी लकड़ी और इमारती पत्थर, रेत, ईंट, धान आदि लिये नौकाएं यहां चलती हैं, पर बस आदि स्वचालित परिवहन साधनों के आने के बाद उनका व्यवहार काफ़ी कम हो गया है। बोझा या व्यापारी वस्तुएं ढोने वाली नौकाएं हैं 'बहच्', 'खोच' और 'वोर'। 'बहच्' एक काफी बड़ी नौका है जिसकी छत प्राय: फूस की बनी होती है। एक बड़ा भाग मिट्टी-पत्थर-लकड़ी-रेत-धान आदि ढोने के लिये खुला रखा जाता है। मांझी और उसके परिवार के रहने का स्थान अलग होता है। आजकल भी श्रीनगर शहर में राशन का धान-चावल वितस्ता नदी के विभिन्न घाटों पर इन्हीं 'बहच' नाम की नावों में रखा जाता है और वहीं से लोगों को उपलब्ध होता है। 'बहच्' संस्कृत में 'वहित' से विकसित शब्द है। हिन्दी में भी व्यापारी नाव के लिये 'वोहित' शब्द है। संस्कृत 'त' का 'च' में परिवर्तन आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की एक ध्वन्यात्मक विशेषता है। कश्मीरी में संस्कृत तत्सम या तद्भव शब्दों में आर्य 'त' का उच्चारण 'च' के रूप में होता है। एक बहच में सामान्यतया ४०,००० किलोग्राम से भी अधिक अनाज ढोने की क्षमता है। 'खोच' बोझा ढोने के लिये प्रयुक्त एक अन्य नौका है जिसमें प्राय: छत नहीं हुआ करती। उसमें पत्थर-ईंट जैसा सामान ढोया जाता है जिसकी बारिश-बर्फ से खराब होने की संभावना न हो।

'बहच्' ने कश्मीरी भाषा को एक मज़ेदार कहावत दी है—'वासकाकन्य गास नाव, दकदी-दी पकनाव !' अर्थात्, वासुदेव काका की यह घ स से लदी नाव, इसे ठेल-ठेल कर चलाओ। कोई कार्य अत्यंत शिथिल गति से सम्पन्न हो या कोई भारी वस्तु उठाने में दिक्कत हो और उसे कठिनाई से अपनी जगह पहुँचाया जा सके तो उसे 'वासकाकन्य गास नाव' कहते हैं। जाने कौन थे ये बेचारे वासुदेव काका और उन्हें इतनी ढेर-सारी घास की क्या आवश्यकता

आ पड़ी थी कि उनकी नौका को ज्यों-त्यों करके ठेल-पेल कर गन्तव्य तक पहुँचाया जा सका था। बहरहाल, कहावत ने उन्हें अमर कर दिया है।

'डूंग', अर्थात् डोंगा ; एक और प्रकार की बड़ी नौका है जिसमें मांझी और उसका परिवार तो रहता ही है, साथ ही उसका व्यवहार अपेक्षाकृत लम्बी यात्राओं में होता है, या कहें कि होता था। बसों आदि स्वचालित वाहनों के प्रचलन से पूर्व ये नावें परिवहन का एक प्रमुख साधन थीं। मेले-ठेले के अवसर पर, लोकोत्सवों में या छुट्टी-अवकाश के दिनों घर से दूर समय बिताने के इच्छुक लोग इन्हीं में जल-विहार किया करते थे। शताब्दियों के उत्पीड़न के बावजूद कश्मीरी जन-मानस का यह आनंदवादी-रंग कभी फीका नहीं पड़ा। अपनी आनंद-तृषा और सौंदर्य-भूख की परितृप्ति के लिये कश्मीरियों ने उसका समन्वय धर्म के साथ किया था। धर्म और सौंदर्यानुराग के इस समन्वित रूप ने कश्मीरी लोकजीवन में अनेक स्तरों पर अभिव्यक्ति पायी है। प्राकृतिक सौंदर्य के सान्निध्य और साहचर्य में कुछ क्षण आनंद मधु कण पान करना—कश्मीरियों की यह रसिक तबियत आज भी ज्यों की त्यों बनी है। कश्मीर की डल, वुलर, मानसबल आदि झीलें किसी न किसी नहर द्वारा नदियों से मिली हैं, और उनमें आनंद विहार के लिये अनेक उपयुक्त स्थल हैं। आजके जीवन की आपाधापी में यही बहुत है कि कभी-कभार वहां आदमी सैर के लिये जाए। किसे अवकाश है कि वह पुराने ज़माने की तरह नौका विहार करता-करता श्रीनगर से सोपुर या बारहमुला नगरों को जाने में कई दिन बिताये, जबकि बस के द्वारा यह सारा सफर सवा-डेढ़ घण्टे में तय किया जा सकता है। लेकिन उत्सवों और मेलों आदि की बात ही और है। चाहे धार्मिक उद्देश्य से हो या यों ही दिल-बहलाने की नीयत से—डोंगे में धीरे-धीरे भरपूर आनंद उठाते हुए क्षीर-भवानी या हज़रत बल में लगने वाले मेलों में डोंगे द्वारा जाने का अपना ही रस है जिसके लिये आज भी उत्सवार्थी हज़ारों की संख्या में तैयार हो जाते हैं। क्षीरभवानी के वार्षिक मेले में जाने वाले लोग तीन-तीन, चार-चार दिन, या कभी पूरे का पूरा सप्ताह डोंगे में बिताया करते थे। हिन्दू होते हुए भी ये लोग डोंगे में ही अपने रहने-सोने तथा खाने-पकाने तक का प्रबन्ध कर लेते थे। प्राचीन संस्कारों से युक्त काशी-कांची पूजित ब्राह्मण कुल शिरोमणि कश्मीरी पंडित या उसकी पंडिताइन के लिये चौके-रसोई से अधिक शुद्ध-पवित्र कोई स्थल नहीं। उनकी रसोई के बाहर अनेकानेक भयंकर वर्जनाओं की अदृश्य

टहनी सदा लटकी रहती है। लेकिन मेले-ठेले की बात और है—यहां आपद्-धर्म चलता है और पंडिताइन आपद्-धर्म खूब समझती है। मुसलमान मांझी द्वारा दिये गये डोंगे के प्रकोष्ठ में उसी से उधार लिये चूल्हे पर वह बड़ी खुशी से व्रत-उपवास तक का 'पवित्र' भोजन पकायेगी। आखिर मिट्टी तो सब कुछ शुद्ध कर सकती है। जरा-सी मिट्टी से स्थान लीप दिया तो सब शुद्ध। रसोई के विधि-निषेधों में तनिक-सी चूक पर भी दशमी और एकादशी का उपवास रखने वाली पंडिताइन को कोई आपत्ति नहीं। मांझी मुसलमान हुआ तो क्या हुआ, चौका तो मिट्टी और गोबर से लिपा हुआ है।

यों डोंगी अधिक गहरा जल मांगने वाली नाव नहीं, पर कभी-कभी जब नदी में पानी कुछ सूख जाता है—जैसा शरद या शिशिर में प्रायः हुआ करता है—तो 'हमतुल' अर्थात् डांड से काम नहीं चलता और न लग्गी से। रस्सी बांध कर नौका को खींचना पड़ता है। ऐसे अवसरों पर मांझी किनारे-किनारे या तट के पास के उथले जल में उतर कर रस्सी हाथ में लिये नौका खींचता हुआ धीरे-धीरे आगे ले जाता है। नदी में जल का प्रवाह अत्यन्त तीव्र हो और धारा भी प्रतिकूल हो तो ऐसे में नौका खेना कठिन हो जाता है। कई परिस्थितियों में यह मांझी की शक्ति और साहस की परीक्षा का भी क्षण बन जाता है। ऐसे समय साहस-प्राप्ति तथा श्रम-परिहार के लिये धीर से धीर मांझी भी अतिमानवीय शक्तियों या पीरों-फकीरों का सहारा लेना चाहता है—

या पीर—दस्तगीर !
या पीर—दस्तगीर !
मीशा पादशाह
यह जल का धक्का आया
आंधी ने बल दिखलाया
पांव टिकाओ
डांड चलाओ
जोर लगाओ
कहते जाओ—
या पीर—दस्तगीर
मीशा पादशाह !

पीर दस्तगीर साहब ईरान के गुलाम जीलानी नाम के मुसलमान पीर थे जिनका कश्मीर में इस्लाम फैलाने में काफी हाथ रहा है। मीशा साहब

कश्मीर के एक लोकप्रिय संत हुए हैं जिनके प्रति यहां के हिन्दुओं में भी श्रद्धा-भाव है। श्रीनगर में रैणावारी नामक स्थान पर उनका मज़ार है जहां हर वर्ष उनका उर्स मनाया जाता है।

प्रतिकूल जलधार में नाव को खे रहे मांझियों का कोई दृश्य संभवत: अपने घर पाम्पुर के निकट शुराहयार घाट पर स्नान करने या जल भरने को आयी महान कश्मीरी कवयित्री ललेश्वरी को उनकी इन प्रसिद्ध पंक्तियों की प्रेरणा दे गया होगा :—

—कच्चे धागे से सागर में अपनी नौका खींच रही हूं
वह मेरा देवता मेरी सुन लेता
और मुझे पार उतार देता !
कच्ची मिट्टी के सकोरों में बचते पानी-सी
मैं भी तो छीज रही हूं
भरम रहा है हृदय—
आह, मैं भी अपने घर जाती !

अछोर-अमाप भवसागर और एक स्त्री अपनी (जीवन) नाव खे रही है—अकेली ; नाव उत्ताल तरंगों पर उठती-गिरती-तिरती हुई, सहायता के लिये अपने 'देवता' का आह्वान, मिट्टी के सकोरों में छीजता पानी होने की अनुभूति ; घर जाने की आकुलता—ये बिम्ब मन पर सीधा, गहरा प्रभाव छोड़ जाते हैं जो ललेश्वरी की कविता की एक बड़ी विशेषता है।

डोंगे का ही परिवर्तित-आधुनिकी कृत रूप है हाउस-बोट—नावघर ! आप उसमें रह सकते हैं और सैर भी कर सकते हैं। खाने-पीने-रहने की आधुनिकतम सुविधाओं से युक्त इस डोंगे में रहने का सुख सचमुच एक एय्याशी है। हाउस-बोट का निर्माण सन् १८६० में एक अंग्रेज़ मिस्टर कर्नाडे ने किया था—पर एक कश्मीरी पंडित, नारायण दास, का भी इसके बनाने में बड़ा हाथ रहा है, लेकिन उसे उचित श्रेय मिलने के बदले, मिला 'नाव-नाराण' (नाव-नारायण) नाम। उपनाम या चिढ़ रखने में कश्मीरी कुछ विशेष तेज़ हैं। किसी भी व्यक्ति का किसी भी मामूली से मामूली आधार पर उपनाम (निकनेम) रख लेते हैं और फिर यह उपनाम उसके साथ ऐसे चिपक जायेगा कि वह लाख सिर पटके उसे हटा नहीं सकता। अंत में हार कर, झख मार कर उसे इस उपनाम को स्वीकार करना पड़ता है और आहिस्ता-आहिस्ता उसका असली कुलनाम लुप्त हो जाता है। अधिकांश

कश्मीरी कुलनाम वास्तव में उपनाम (निकनेम्स) ही हैं और उनमें कई तो अत्यन्त विचित्र और अप्रिय हैं। बहरहाल बात हाउसबोट की हो रही थी। सैलानियों के लिये डल झील के कमलक्षेत्रों के पास या वितस्ता या सिन्ध नदी के रजताभ पत्तों वाले वेद वृक्षों, लम्बे पॉपुलरों और चिनारों से आच्छादित तटों से लगे जल पर डोलते ये हाउसबोट एक विशेष आकर्षण हैं। हाउसबोट की छत या लाउंज पर सुस्ताते हुए कश्मीरी वसंत की सुनहरी धूप के रेशमी स्पर्श का सुख, एक ऐसा अनुभव है जिसे भूला नहीं जा सकता। इन चल-नावघरों के साथ प्रायः भोजन आदि की व्यवस्था करने के लिये एक डोंगा लगा रहता है जिसमें मांझी अपने परिवार के साथ रहता है और तरह-तरह के किस्सों और बढ़िया से बढ़िया कश्मीरी व्यंजनों द्वारा अपने आसामियों का दिल खुश रखता है। पाक-कला में उसकी कुछ ऐसी गति है कि बड़े-बड़े होटलों के खानसामे भी लोहा मान लें। यह ज़ियाफतें ज़्यादातर गोश्त की हुआ करती हैं, इसलिये यदि केवल निरामिष भोजन करने वाले सैलानियों से उसका पाला पड़े तो हाउसबोट वाला बेहद चिढ़ेगा। उन्हें वह अपनी पाक-विद्या का कौन सा हुनर दिखाये। कश्मीर अपने सामिष ईरानी व्यंजनों के लिये प्रसिद्ध है, 'घास' पकाने के लिये नहीं। चिढ़ कर कश्मीरी मांझियों ने निरामिष भोजन करने वाले सैलानी के लिये एक नाम भी रख दिया है—'छोल विज़िटर' अर्थात् छोले खाने वाला सैलानी !

जल पर आनंद विहार करने के लिये सबसे आरामदेह, द्रुत और सुन्दर सवारी है "शिकारा"—ठीक इतालवी गंडोला जैसी। स्प्रिंगदार गद्दियों, तकियों तथा सुन्दर पर्दों से सजी यह एक हल्की-सी नाव है जिसे प्रायः दो या अधिक मांझी चप्पुओं से खेते हैं। कश्मीरी मांझियों के चप्पुओं का सिरा दिल के आकार का होता है। शिकारे पर डल या नगीन झीलों अथवा वितस्ता पर बने श्रीनगर के नौ पुलों की सैर के बिना श्रीनगर का सौंदर्यदर्शन अधूरा रहता है। यहां के लोकजीवन की अपूर्व झांकी नौ पुलों के नीचे वितस्ता पर जल-विहार करते हुए आपको मिलेगी। डलझील के पिछवाड़े या तटों के पास महकते प्रफुल्ल कमलवन, पानी में घुलते हुए से सूर्योदय या सूर्यातीत के अनेक-अनेक रंग, वेद की रजताभ पत्तियों की झलमलाहट, सघन चिनारों से बहते हुए जल को तरंगायित करते हुए, हवा के गुदगुदाते झकोरे, जल में बिम्बित आकाश की गहन नीलिमा, तथा पर्वतों के नीलाभ शिखर, पास के वृक्षों या जलघासों पर बैठे हुए बहुरंगी बोलियों की विभोर कर देने

वाली गीत-लहरी, जलीय वनस्पतियों की विचित्र-सी गन्ध—शिकारा में बैठे-बैठे एक साथ इतने नशीले सुखों का आप अनुभव कर सकते हैं।

शिकारा के ही समान, पर उससे कुछ लम्बी नाव है 'परिन्दा' जिसे तीस-चालीस या उससे भी अधिक मांझी चप्पुओं से खेते हैं। यह नाव इतने द्रुत वेग से चलती है कि सचमुच लगता है जल पर पक्षी की भांति 'उड़' रही है। परिन्दा वास्तव में एक शाही सवारी है जिसमें पुराने समय में बादशाह या सामन्त सैर किया करते थे। आजकल भी 'अत्यंत महत्वपूर्ण व्यक्तियों' की शोभायात्रा और सैर के लिये इसे सजाया जाता है। इसके बीच में एक चन्दोवा सा बना होता है। सिखों के शासनकाल में कश्मीर का गवर्नर दीवान कृपाराम 'परिन्दा' में जल-विहार करने का बड़ा शौकीन था। उसकी जेबें हमेशा मांझियों और उनके बच्चों को 'बख़शीश' देने के लिये सिक्कों से खनखनाती रहती थीं जिसके कारण उसका नाम ही 'कप श्रोन्य' पड़ गया था। 'श्रोन्य' कश्मीरी में खनखनाहट को कहते हैं। पच्चास से अधिक चप्पुओं की जल में छपाछप् ध्वनि के साथ जब उसका 'परिन्दा' निकलता था तो लोग उसे 'कृपरामन्य छप्पर' (कृपाराम की छपाछप करने वाली नाव) कहते थे।

अन्य प्रकार की हल्की और द्रुत गति से चलने वाली नावें थीं 'लरिनाव' और 'चकवार', जिनका व्यवहार प्रायः आजकल नहीं होता।

लेकिन कश्मीरी मांझी को कश्मीरी लोकजीवन में जो स्थान प्राप्त है वह केवल जल-विहार या बोझा ढोने के लिये नाव खेने के कारण नहीं। वह अनेक प्रकार से और काफी निकटता से एक सामान्य कश्मीरी के जीवन का स्पर्श करता है। जैसे, वह जल में से सिंघाड़े बीनता है जो कश्मीरियों का एक लोकप्रिय सस्ता फल है। वसन्त में जब बादाम के वृक्षों में हल्के गुलाबी बौर ठौर-ठौर महक उठते हैं और भीड़ के भीड़ लोग हर छुट्टी, या अवकाश के दिन श्रीनगर की बादाम वाटिका, 'बादामवोर' में वसन्तोत्सव मनाने को आते हैं तो भुने सिंघाड़ों का स्वाद लेना नहीं भूलते! सिंघाड़ा जल का फल है और वुलर झील में उगता है। उसके फूल यद्यपि जल की सतह से ऊपर खिलते हैं, पर फल सतह के नीचे ही बनते और पकते हैं। मांझी लोग उन्हें एक लम्बे डाण्ड से तोड़ कर जाल द्वारा बटोरते हैं। इस फल का गूदा भून कर, तल कर या आटा बनाकर खाया जाता है। व्रतों-उपवासों के अवसर पर कश्मीरी पण्डित सिंघाड़े के आटे का हलुआ, पूड़ी, पकौड़े आदि व्यंजन बनाते हैं। यह फल कश्मीर में जितना पहले लोकप्रिय था—अब नहीं है, अब आहिस्ता-आहिस्ता एक सामान्य कश्मीरी के जीवन

से वह सब कुछ गायब होता जा रहा है जिस पर कश्मीरियत की छाप थी—इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि यह बच्चों के एक (अब पुराने) खेल का विषय है जिसे दो या अधिक बच्चे ये पंक्तियां बोलते हुए खेला करते थे—

बुड्ढे, ओ बुड्ढे !
कहां जाएगा रे ?
सिंघाड़े खाने।
सिंघाड़े खाने ?
पैसे कहां हैं ?
तेरी जेब में हैं।
मेरी जेब में नहीं
तेरी जेब में हैं
ना-ना तेरी जेब में हैं।

और बुड्ढा बना बच्चा अन्य बच्चों के पीछे क्रोध दिखाता हुआ दौड़ पड़ता था।

मांझियों का एक वर्ग कुंजड़ों का भी कार्य करता है—मार (संस्कृत महासरित) नाला के किनारे या डलझील में 'तैरते बागों' में इस वर्ग के मांझी सब्ज़ी उगाते और बेचते हैं। ये तैरते हुए बाग पानी में उगने वाली घासों और वनस्पतियों को जल में गाड़े गये चार डण्डों के बीच ढेर करके तथा सबसे ऊपर वाली परत पर झील या नाले के तल से निकाली गयी मिट्टी बिछा कर बनाये गये छोटे-छोटे 'द्वीप' हैं। मांझी लोग कभी-कभी एक-दूसरे के "तैरते-बागों" का कुछ हिस्सा 'चुराकर' अपने बाग में मिला लेते हैं और इस बात को लेकर तुमुल युद्ध छिड़ जाता है। "तैरते-बागों" में भांति-भांति की सब्ज़ी-तरकारी उगाई जाती है—लौकी, बैंगन, करेला, फलियां, टमाटर आदि। कुंजड़े का कार्य करने वाले इन मांझियों को 'डेम्ब हॉंज़' कहते हैं जिस नाव में लाद कर वे सब्ज़ी बेचते हैं उसे 'डेम्ब साव'। कश्मीरी के प्रसिद्ध जन-कवि दीनानाथ नादिम ने सब्ज़ी बेचने वाली डल की मांझिन को सर्वहारा वर्ग का प्रतीक बनाकर एक युद्ध-विरोधी गीत लिखा है जिसमें 'जंगबाज़ों' और 'साम्राज्यवादियों' को चुनौती दी गयी है कि वह कश्मीर के इस सरल लोक-जीवन के छोटे-छोटे सुखों को युद्ध द्वारा कभी उजाड़ नहीं पायेंगे। जीवन की हमेशा मृत्यु बोने वाली शक्तियों पर विजय होगी।

झीलों और पोखरों में एक और चीज उगायी जाती है, 'नदुर'—जो कश्मीरियों की एक प्रिय सब्ज़ी विशेष है। शताब्दियों से यहां के लोग उसके

अनेक व्यंजन खाते आये हैं। 'नदुर' शब्द संभवतः संस्कृत 'नदोरुह' से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है 'नद में उत्पन्न होने वाला'। 'नदुर' जाड़ों के आस-पास दीप्त होने वाले कमल-नाल का जड़ के समीप वाला मोटा तथा सफेद भाग है। 'नदुर' का प्रयोग एक अन्य लाक्षणिक अर्थ में भी किया जाता है—कोरे झूठ या निराधार बात को 'नदुर' कहा जाता है। रस-मधुर गीतियों के सृष्टा प्रसिद्ध कश्मीरी भक्त कवि श्रीकृष्ण राजदान के एक, प्रसिद्ध गीत की पंक्ति है—'सर कोर यि संसार, नदरुय द्राव' अर्थात् इस संसार (सरोवर) को हमने देख लिया, और 'नदुर' (निराधार) ही पाया।

अन्य स्थानों की भांति कश्मीर में भी मांझियों में मछियारों का एक वर्ग है। मत्स्यगन्धा कश्मीरी मछियारिन की देह-छवि पर अनेक कश्मीरी कवियों ने रूमानी गीत लिखे हैं। कुछ वर्ष पूर्व कश्मीरी जलाशयों में मिरर-कार्प नाम की मछली का बीज डाला गया जिसकी संख्या अब स्थानीय मछलियों की संख्या से बहुत अधिक हो गयी है। जिन्होंने असली कश्मीरी मछली खायी है, उन्हें मिररकार्प खाने में बिलकुल अच्छी नहीं लगती। अभी कल तक सूखी हुई मछली 'होगाड' कश्मीर में 'न्यू' की एक महत्वपूर्ण मद थी। अब उसका प्रयोग बहुत ही कम हो चला है। कश्मीर में मछली भून कर भी खायी जाती है, लेकिन अब बहुत कम लोग इसे खाते हैं और 'होगाड' की तरह कश्मीरी व्यंजन सूची से इसका भी नाम हटता जा रहा है। भूनी हुई मछलियों को कश्मीरी में 'घरि' कहते हैं। इस शब्द का प्रयोग भी लाक्षणिक रूप में झूठ या कोरी गप्प के अर्थ में होता है।

एक और चीज़ जो मांझी कभी श्रीनगर के घर-घर में पहुँचाते थे 'इक' अर्थात् नदी में प्रवाहित काष्ठ 'ड्रिफ्टवुड' थी, जो जाड़ों में चूल्हे जलाने के काम आती थी। उसके अंगारे कांगड़ी में काफी देर तक सुलगे रहते थे और जाड़ों में देर तक गर्मी देने वाली कांगड़ी से अधिक सुखद और क्या चीज़ हो सकती है?

कश्मीर में कारीगरों के लिये बड़ा ही प्रिय सम्बोधन है—'वोस्त' अर्थात् 'उस्ताद' जो मल्लाहों के लिये भी प्रयुक्त होता है—यानी कोई भी मांझी हो, है वह अपनी कला का एकदम उस्ताद! इसमें कम से कम एक कश्मीरी को कोई संदेह नहीं। मांझी तो मांझी उसके बच्चे के बारे में भी कश्मीरी में यह उक्ति है—"मांझी का बच्चा नदी में गिरे तो कोई परवाह नहीं, मुट्ठी में मछली लिये हुए ऊपर आयेगा।"

———

डोगरी लोकगाथाओं के—
वैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता

—डॉ० ओमप्रकाश गुप्त

लोककथा जब गेय पदों के रूप में प्रस्तुत होती है, उसे लोकगाथा का नाम दिया जाता है। इस प्रकार लोकगाथा के अध्ययन की दो स्पष्ट दिशाएं निर्धारित होती हैं :—

(क) गीत-संगीत-मूलक अध्ययन।

(ख) कथा-मूलक अध्ययन।

उल्लेखनीय है कि ये दोनों अध्ययन लोकतात्त्विक होंगे साहित्यतात्त्विक नहीं।

डोगरी लोकगाथाओं की बात क्षण भर के लिए भूलकर लोकगीतों के अध्ययन की ओर दृष्टिपात करें तो वहां भी जितने अध्ययन हमारे समक्ष आते हैं, उनमें संगीतपक्ष की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। मेरी जानकारी के अनुसार डॉ० कर्णसिंह के सम्पादकत्व में प्रकाशित 'शैडो एण्ड सनलाइट' एकमात्र ऐसा संकलन है जिसमें लोकगीतों की स्वरलिपियां भी दी गयी हैं। तथाकथित सांस्कृतिक समारोहों और आकाशवाणी के कार्यक्रमों में जो लोकगीत सुनाये जाते हैं, उनके 'आर्केस्ट्रा' प्रायः, लोकवाद्यों का प्रयोग नहीं करते। इस दिशा में अब और आगे न जाकर इस लेख में मैं लोकगाथाओं के अध्ययन के दूसरे विषय पर विचार करूंगा।

पहली बात तो यह कि अपने प्रदेश की सभी लोकगाथाओं को हम संकलित नहीं कर पाये। यदि कुछ लोकगाथाएं कुछ खास लोगों के पास हैं भी तो वे उनकी निजी बपौती बनकर रह गयी हैं। अकादमी द्वारा प्रकाशित 'लोकगीत-भाग दो' एकमात्र ऐसी पुस्तक है जो डोगरी लोकगाथा के

जिज्ञासुओं की सहायता करती है। इस पुस्तक में कुल मिलाकर चौदह गाथाएं संकलित हैं। इन गाथाओं के दो मुख्य भेद हैं—'बार' और 'कारक'। इन दोनों को मोटे तौर पर, क्रमशः, लीजेंड (अवदान) और मिथ (धर्मगाथा) का पर्यायवाची माना जा सकता है। 'मोटे तौर पर' इसलिए कि 'बार' का इतिहास संदिग्ध हो सकता है और 'कारक' का अपेक्षाकृत प्रामाणिक लेकिन इस तथ्य में सन्देह नहीं है कि कारक का धर्म के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है।

धर्मगाथा कथा-कोटि में पुराकथा के समानान्तर है। प्रख्यात मनोवैज्ञानिक युंग ने यह मानकर कि "स्वप्न की भांति पुराकथा में मानस को अपनी कहानी कहनी है", पुराकथा के अध्ययन को एक नया आयाम प्रदान किया। युंग ने फ्रायड से अलग होकर मानस का नये सिरे से विभाजन किया और सामूहिक या 'कोलेक्टिव' अचेतन को महत्व देकर 'आर्चेटोइप' या मूलस्थापित की व्याख्या करते हुए उसे कथा में प्राप्त उस मूल घटना के साथ जोड़ने की कोशिश की जिसे लोकवार्त्ता के क्षेत्र में 'मोटिफ' या अभिप्राय कहा जाता है। खेद है कि इस प्रकार के अध्ययन की ओर हमारे अनुसन्धित्सुओं का ध्यान अब तक नहीं गया।

पुराकथा की उत्पत्ति के विषय में निम्नलिखित सिद्धान्त प्रमुख हैं :—

(क) सभी कथाएं मूलतः सूर्य और अंधकार के संघर्ष की कथाएं हैं।

(ख) सभी कथाएं अपनी प्रारंभिक अवस्था में कृषि कर्म एवं प्रजनन की कथाएं थीं।

(ग) कथाओं का मूल कोई ऐतिहासिक तथ्य था।

किसी प्राकृतिक कार्य, देवी-देवताओं के नामों का आरोप, देवी-देवताओं की जगह संकेतों का प्रयोग, संकेतों की जगह किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के नाम का प्रयोग, संकेतों की व्याख्या के लिए नयी कहानियों का निर्माण—इस तरह से कहानियां आगे बढ़ीं और आज लोकवार्त्ता का नया विद्यार्थी आश्चर्यचकित होता है जब उसे बताया जाता है कि 'रेड राबिनहुड' की गाथा सूर्य-सम्बन्धी किसी कथा का विकसित रूप है याकि राम-लक्ष्मण की कथा उसी कथा-मानक से मिलती-जुलती है जिस पर रूप-बसन्त की कथा का निर्माण हुआ है। डॉ० सत्येन्द्र अपनी पुस्तक 'लोक साहित्य विज्ञान' में समस्या को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं—"...सात मुख वाला सपक्ष अजगर ही (राम की कथा में) धनुष बन गया।" यहीं मुझे अपने प्रदेश में 'लछमन का जोग' नाम से प्रचलित 'बार' का स्मरण हो आता है। यह लछमन राम का

ही भाई लक्ष्मण है लेकिन उसी तरह का भाई जैसे रूप का भाई बसन्त। लोकवार्त्ता के इसी प्रकार के विकास को दृष्टि में रखकर मैक्समूलर ने इसे "मैलेडी आफ लैंग्वेज" करार दिया था।

हमारे यहां एक अन्य बहुचर्चित लोकगाथा है— बाबा जित्तो की कारक। प्रोफ़ेसर रामनाथ शास्त्री ने 'बाबा जित्तो' नामक पुस्तिका में इस लोकगाथा का ऐतिहासिक तथा साहित्यिक अध्ययन किया है। यह पुस्तिका इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है कि इतना विशद विवेचन किसी और लोकगाथा का नहीं हुआ, किसी और व्यक्ति ने ऐसा प्रयास भी नहीं किया। किन्तु इस पुस्तिका में भी लोकतात्त्विक अध्ययन की ओर ध्यान नहीं दिया गया। गाथा के अभिप्रायों का विश्लेषण भी इस पुस्तिका में नहीं है। इस गाथा के एक अभिप्राय को 'शिशु अभिप्राय' के अन्तर्गत विवेचित किया जा सकता है। देवी दुर्गा कन्या-रूप में जित्तो को दर्शन देती है और जित्तो इच्छा करता है कि 'ऐसी कन्या का जन्म मेरे यहां हो'। द्रष्टव्य है कि सामान्यतः मिथक में इस प्रकार के दर्शन और इच्छा बालक की मां से सम्बद्ध रहते हैं जबकि इस गाथा में इन्हें पिता से सम्बन्धित करके जन्म के शीघ्र बाद मां की मृत्यु दिखायी गयी है। (आठ वर्ष की आयु में तो बालिका सती भी हो जाती है।) चाची जोजां के दुर्व्यवहार और जादू-टोने से पीड़ित जित्तो अपनी बेटी के साथ अपने ग्राम का परित्याग करता है—एक और प्रमुख कथा-अभिप्राय। जोजां के पुत्र जित्तो को पहाड़ी से नीचे धकेल देते हैं किन्तु मंडलीक के परामर्श से कालीवीर उसे बचा लेता है—एक नया अभिप्राय ! इस प्रकार यह लोकगाथा प्रसिद्ध अभिप्रायों का अच्छा संकलन है।

उपर्युक्त चर्चा का यह अभिप्राय नहीं है कि ऐतिहासिक प्रमाण जुटाने की कोशिश नहीं की जानी चाहिए। वह भी एक महत्त्वपूर्ण कार्य है किन्तु लोकतात्त्विक अध्ययन ऐतिहासिक सीमाओं से बहुत पहले—आदिम मानस की पड़ताल करता है। बाबा जित्तो की कारक का अध्ययन अधिक पेचीदा काम है क्योंकि यहां इतिहास के स्पष्ट संकेत आ जुड़ते हैं और यह फैसला करना कठिन हो जाता है कि लोक-धारा कब और किस सीमा तक परिनिष्ठित धारा को संजो कर आगे बढ़ी है। यहीं हम युंग की इस मान्यता से भी चौंक पड़ते हैं कि "मेनिफ़ेस्टेशन्ज़ आफ़ कोलेक्टिव अनकांशस क्राप अप अगेन एण्ड अगेन इन ह्यूमन हिस्ट्री"।

बावा जित्तो के समान ही एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारक है—'भैड़ की कारक'। इस कारक की पहली दो पंक्तियां हैं :—

भलै मुम्हूरत जनम बावे दा नारी मंगल गाई।
गहरी नागनी, कपूरी नागनी, जुड़ विधमाता लाई॥

और जित्तो की कारक की दूसरी तथा तीसरी पंक्ति इस प्रकार है :—

ग्रौंदियां नारियां गान बधावे, जुड़ बिधमाता गाई।
भले नच्छतर जनम बावे दा नारी मंगल गाई॥

मंडलीक और कालीवीर की चर्चा बावा जित्तो की कारक में है ही। संकेत यह है कि लोकगाथाओं का तुलनात्मक अध्ययन बहुत आवश्यक है—पहले अपने प्रदेश की लोकगाथाओं की परस्पर तुलना और फिर उनकी अन्य प्रदेशों की लोकगाथाओं के साथ तुलना। यह कार्य और भी आवश्यक प्रतीत होता है जब हम देखते हैं कि गोग्गा, मंडलीक, सुरगल तथा अनेक नाथ उस प्रदेश की सीमाओं में ही आबद्ध नहीं हैं जिसे हम डुग्गर या डोगरा प्रदेश कहते हैं। इतिहास और लोकतत्त्व के आदान-प्रदान से प्रस्तुत होने वाली समस्या मैं एक और मिथक का सहारा लेकर उठाना चाहूँगा। महाजनों में 'जंडयाल' उपजाति के कुलगुरु बावा सहजनाथ हैं। इन्हीं का दूसरा नाम पूर्णभक्त (या पूरण भगत) बताया जाता है। गाथा के अनुसार 'झांडी' के राजपूत राजा के कोई सन्तान नहीं थी। बावा सहजनाथ की कृपा से उन्हें पुत्र-सुख प्राप्त हुआ किन्तु वरदान की शर्त्त के अनुसार उन्हें वर्ण बदलना पड़ा; वे वैश्य हुए और झंडयाल या जंडयाल कहलाए। बड़ी आसानी से कहा जा सकता है कि सभी जंडयाल झांडी के राजा की सन्तानें नहीं होंगे; पहले भी यह जाति किसी न किसी रूप में विद्यमान होगी। एक लोकसमुदाय ने किसी विशिष्ट कारण से सहजनाथ को कुलगुरु मान लिया।

यहीं एक सामान्य लोकविश्वास का उल्लेख आवश्यक है जिसके अनुसार कुलदेवता नाग या मत्स्य के रूप में किसी बावड़ी या जलाशय में निवास करते हैं। (झांडी के राजा ने भी एक बावड़ी के किनारे पूरण भगत को अपना राज्य समर्पित कर दिया था।) स्पष्ट रूप में यह विश्वास सेक्स को प्रतीकात्मक आधार देता है। भैड़ की कथा भगीरथ की कथा से मिलती-जुलती है। भगीरथ गंगा को धरती पर लाता है और भैड़ तवी को। भगीरथ पित्रों की प्यास बुझाता है, भैड़ बूढ़े पिता की। संकेत के लिए यहां भैड़ की कारक के कुछ अभिप्रायों की चर्चा मैं आवश्यक समझता हूँ :—

१. भाइयों की शस्त्र-परीक्षा और भैंड़ का विजयी होना। (कौरवों-पांडवों की भी शस्त्र-परीक्षा हुई थी ; वैसे भी यह एक प्रमुख कथा-अभिप्राय है।)

२. पिता की प्यास बुझाने के लिए भैंड़ द्वारा कैलाश झील का किनारा कुदाल से तोड़ना। (अर्जुन ने तीर चला कर धरती से जल उत्पन्न करके भीष्म की प्यास बुझाई थी। भागीरथ के शिव भी कैलाश-वासी हैं।)

३. भाइयों द्वारा भैंड़ को नदी में फेंकना और भैंड़ का पाताल पहुँचना। (भीम बहता हुआ नागलोक पहुँचा था।)

ध्वनि-परिवर्तन के आधार पर भी / भगीरथ / का / भैंड़ / हो जाना असंभव नहीं है। स्टिथ थाम्सन द्वारा संकलित अभिप्रायों और सोफ़िया बर्न द्वारा विश्लेषित कथा-मानकों में भी इन गाथाओं के मूलबिन्दु तथा कथा-रूप आसानी से दिखाई दे जाते हैं। टेंपल ने अवदानों के जो छः चक्र निर्धारित किये हैं—रसालू, पांडव इत्यादि ; उनमें हमारी "रसालू की गाथा" कहां बैठती है, इस दिशा में जांच-पड़ताल करना आवश्यक नहीं है क्या ? बहुत संभव है कि कुछ गाथाओं के अध्ययन में मैक्समूलर का सौर-कथा-सम्बन्धी तथा फ्रेज़र का कृषिकर्म-कथा सम्बन्धी सिद्धांत हमारी सहायता न करे और हमें लायल की बात माननी पड़े कि इन गाथाओं का जन्म तब हुआ "जब मनुष्य इतिहास और कल्पना में भेद करना नहीं जानता था" ; लेकिन अध्ययन के क्षेत्र में उतरे बिना हम किसी निष्कर्ष पर पहुँचने का अधिकार नहीं प्राप्त कर सकते। 'कार्न मदर' और 'कार्न मेडन' की परिकल्पना सम्बन्धी चर्चा फ्रेज़र ने विस्तार के साथ अपने ग्रन्थ 'गोल्डनबो' में की है। जित्तो की कथा किस सीमा तक एक कृषि-कर्म को प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति देने वाली कथा है ? इस प्रश्न पर विचार किये बिना हम अपनी लोकसंस्कृति की व्याख्या नहीं कर पायेंगे। (बहुत से मिथकों की मां इस गाथा में पिता की भूमिका ग्रहण कर गयी है, यह हम पहले कह चुके हैं।) आज जब एक ओर राम और कृष्ण की ऐतिहासिकता को लेकर विवाद उठ रहे हैं और दूसरी ओर कुशीलवों को गायक-परंपरा के प्रतिनिधि माना जाता है, कोई बात फ़तवे के रूप में कहना खतरे से खाली नहीं, यह प्रवृत्ति वैसे भी अनुसंधान की प्रवृत्ति के प्रतिकूल है, लेकिन इसमें किसी को आक्षेप नहीं होना चाहिए कि लोकगाथा

और लोककथा में लोकतत्त्वों का अध्ययन लोकवार्त्ता शास्त्री का पहला काम है।

इस प्रदेश में प्रचलित लोकगाथा ने अपने वर्तमान रूप को बहुत हद तक उस समय प्राप्त किया जब गुरु गोरखनाथ और उनके शिष्य नाथ-पीठों की स्थापना करते हुए इस भूभाग में घूमा करते थे। वैष्णोदेवी की यात्रा करने वाले, भक्त भैरव और दुर्गा के पारस्परिक संघर्ष की कथा जानते हैं। स्पष्टतः यह नाथ और वैष्णव पीठों के संघर्ष की मिथकीय अभिव्यक्ति है।

निष्कर्ष-रूप में हम मान सकते हैं कि डोगरी लोकगाथाओं के वैज्ञानिक अर्थात् लोकतात्त्विक अध्ययन के लिए निम्नलिखित विषयों को लेकर कार्य आरंभ किया जा सकता है :—

१. गाथाओं की टेपरिकार्डिंग और स्वरलिपि सहित उनका प्रकाशन।

२. गाथाओं का अभिप्रायगत विश्लेषण।

३. अभिप्रायों के आधार पर अन्य प्रदेशों की गाथाओं के साथ तुलना और एक लोकसांस्कृतिक क्षेत्र का निर्धारण।

———

कश्मीर के विशिष्ट उत्सव, पर्व और मेले

—डॉ० निज़ामउद्दीन

कार्यसंकुल जीवन में मनुष्य को विश्राम कहां ? लेकिन जब प्रकृति-सुंदरी अपना सोलह श्रृंगार कर रूप सजाये, नयनाभिराम रंगों वाले फूलों की चुनरी ओढ़, वन्य-हरितिमा से अनुरंजित लहंगा लगाये, माथे पर चांद-तारों का झूमर लटकाये, मांग में बालारुण की लालिमा का सिंदूर लगाये, इन्द्रधनुषी भौंहे तान, काले कजरारे बादलों का अंजन आंजे, अपने पूर्ण यौवन की मादकता लिये मिलती है तो अनायास ही जड़ चेतन को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। सारी धरती विमुग्ध हो जाती है। पवन साज़ बजाती है, पत्ते ताल देते हैं। सारा वातावरण झंकृत हो जाता है और उसके प्रिय दर्शन कर सभी झूम उठते हैं, मन-मयूर नृत्य करने लगता है। ऐसे मादक वातावरण में नर-नारी, बालवृद्ध तरह-तरह के उत्सव व पर्व मनाने के लिए घर से बाहर निकल पड़ते हैं और सामूहिक रूप में प्रकृति-नटी के साथ सोल्लास नाच उठते हैं। भारत उत्सवों व पर्वों का देश है। उसके ये उत्सव और पर्व प्रधानतया प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के कारण मनाये जाते हैं। भारतीय संस्कृति, सभ्यता और जन-विनोद का शुभ्र दर्पण हैं ये उत्सव-पर्व। इनमें हमारे सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन की आशा-आकांक्षा, उत्साह-उमंग, आस्था-विश्वास सभी कुछ समाहित रहता है। इनके द्वारा नई आशा-नई उमंग का संचार होता है, नूतन सृजनशील विचारों की प्रेरणा मिलती है और नया बलोत्साह लेकर हम जीवन-संग्राम में पदार्पण करते हैं। भारत का कोई भूभाग ऐसा नहीं मिलेगा जहां किसी न किसी प्रकार का कोई पर्व या उत्सव न मनाया जाता हो, या जहां कोई न कोई मेला न लगता हो। दक्षिण का ओणम, तमिलनाडु का पोंगल, उत्तर का दशहरा, मालवा की होली, पूर्व की पूजा, पश्चिम का महारास, राजस्थानी पनिहारी की रुनक, भीलों का भगोरिया, गुजरात का

गरबा, लखनऊ के मोहर्रम, दिल्ली की ईद व फूल वालों की सैर, प्रयाग का कुम्भमेला, जम्मू में वैष्णव देवी की यात्रा, कश्मीर में अमरनाथ की यात्रा, शिवरात्रि का पर्व, पंजाब में बैसाखी भारतीय इन्द्रधनुषी संस्कृति के उज्ज्वलतम प्रतीक हैं, भारतीयता के कलश-कंगूरे हैं।

सांस्कृतिक पर्व :—कामरूप प्रदेश कश्मीर के पर्व-उत्सवों में भारतीय इन्द्रधनुषी संस्कृति अपनी अनुपम छटा विकीर्ण करती है। धर्मनिरपेक्षता या सर्वधर्मसमभाव का आह्लादकारी रंगमंच यहां जो चित्ताकर्षक दृश्य प्रस्तुत करता है वह भारत के अन्य किसी प्रदेश में सम्भवतः देखने में न आये। हारीपर्वत के एक छोर पर शारिका का मंदिर है तो दूसरे छोर पर हज़रत मखदूम साहब की पावन ज़ियारतगाह है। इसी हारीपर्वत के शिखर पर स्थित है अकबर निर्मित दुर्ग। यहां सर्वधर्मसमभाव की भावना उस समय मुखरित होती है जब वसंतागमन पर बादामों के नयनाभिराम शगूफों को देखने कश्मीरी हिन्दू-मुसलमान, 'बादामवारी' आते हैं। 'बादामवारी' का मेला मार्च में उस समय लगता है जब बादामों की तरु-राशि पर शगूफ़े फूटने लगते हैं। हारीपर्वत के चारों ओर बादामों के बड़े-बड़े उपवन हैं। जब ये समस्त उपवन शगूफों की नूतन शालें ओढ़ लेते हैं तब न केवल नेत्रों को तृप्त करते हैं वरन् कश्मीरी शालों की 'एम्ब्राइडरी' को भी मात कर देते हैं और शायद शालों पर फूल-बूटे निकालने वालों की कला को नई प्रेरणा भी देते हैं। एक ओर मादक बसंतश्री, दूसरी ओर मखमली सब्ज़ा और वातावरण में मोहक उष्णता कश्मीरी लोगों को बरबस घर से बाहर खींच लाती है। वे बेचारे प्रचण्ड असह्य शीत के प्रकोप से प्रताड़ित अब जाकर राहत की सांस लेते हैं और खुले नीलाकाश में विहार करने निकल पड़ते हैं। यह उनके प्रकृति-प्रेम का सूचक है, मालूम होता है प्रकृति की क्रोड़ में क्रीड़ा करने वाले कश्मीरियों ने प्रकृति से ही यह अद्भुत लावण्य प्राप्त किया है और बादामों के वृक्षों के नीचे बैठी सुंदरियां इसका ज्वलंत प्रमाण हैं। दरअसल कश्मीर का हुस्न यहां मचलता-थिरकता, हंसता-गाता कुदरत के हुस्न से बाज़ी लगा रहा होता है। लोग 'समावार', हुक्का, गावतकिया, कालीन-जाजम के साथ सानंद बैठकर प्रकृति के सौंदर्य का पान करते हैं और जब ऊपर को नज़र उठाकर देखते हैं तो सुदूर पर्वतमालाओं के हिमाच्छादित शिखरों की शुभ्रता को अपने अन्तस्तल की शुभ्रता से निष्प्रभ करते हैं। हारी पर्वत के शिला-खण्डों पर बैठे भुने सिंघाड़े —'ग्आर'—दांतों से तोड़कर खाते सम्पूर्ण श्रीनगर घाटी का विहंगम दृश्य

निहारते हैं। यहां रविवार को विशेष चहल-पहल होती है और पर्वतस्थित दुर्ग के कपाट जनसाधारण के लिए खोल दिये जाते हैं। दुर्ग के भग्नावशेष मौनमुखरित रूप में आज भी सम्राट अकबर की 'सर्वधर्मसमभाव' - उदार चेतना की कहानी दोहरा रहे हैं, जहां मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, तोप, लोहे के गोले, स्नानार्थ ताल सभी के चिह्न मौजूद हैं। शारिका और राम मंदिर में हवन के पावन मंत्रोच्चार भी श्रवणगोचर होते हैं तथा मखदूम साहब की ज़ियारतगाह से अज़ान-नमाज़-दरूद की पाक सदाएं भी कानों में पड़ती हैं। रविवार को विशेष आकर्षण होता है सांस्कृतिक कार्यक्रम, जो **कल्चरल अकादमी** तथा 'सांग एण्ड ड्रामा डिवीज़न' की ओर से पेश किये जाते हैं। यही नहीं बल्कि सरकारी बैंड की मोहक धुनें वातावरण को अनुगुंजित कर एक नयी फ़िज़ा पैदा करती हैं। बालवृन्द झूला झूल कर लुत्फ़ अन्दोज़ होते हैं। 'नदुरमॉज' आदि की दुकानें भी सुसज्जित होती हैं। कश्मीरी बालाएं बहार की आमद के गीत गाती हैं। कश्मीर रेडियो से भी बहार विषयक लोकगीतों के मधुर रिकार्ड कानों में रस घोलते हैं—'बहार आव, बहार आव', 'बादामवारि गछिए, बादामवारि गछिए।' कश्मीर के अन्य उद्यानों एवं स्थानों में भी इस प्रकार के मेले लगते हैं।

बहार का बड़ा मेला बैसाखी के दिन (१३ अप्रैल) निशात बाग में लगता है। कश्मीरी पंडित इस दिन पुण्यार्जन के लिए स्नान व पूजा-पाठ करते हैं और 'ईशबर' में बड़ा मेला लगता है। लेकिन निशात में लोग केवल मनोरंजनार्थ ही जाते हैं। यहां सरदार लोग पूर्ण मस्ती में आकर 'भंगड़ा' डालते हैं तथा कल्चरल अकादमी एवं रेडियो कश्मीर की ओर से सांस्कृतिक कार्यक्रम भी आयोजित किये जाते हैं। बैसाखी के दिन कश्मीर के सिख लोग स्नान आदि करने के पश्चात् ही निशात जाते हैं जहां बैसाखी का वैसा ही सुंदर मेला देखने को मिलता है जैसा पंजाब में। बैसाखी के दिन सन् १६९९ में सिखों के दसवें गुरु श्री गुरु गोविंदसिंह ने 'खालसा' नामक सम्प्रदाय का श्रीगणेश किया था। इसी दिन सन् १९१९ में जनरल डायर ने जलियांवाला बाग में अंधाधुंध गोली बरसवाकर क्रूर हत्याकांड कराया था। कहते हैं पहले यह एक लौकिक पर्व था बाद में धार्मिक पर्व के रूप में मनाया जाने लगा। लेकिन कश्मीर में बैसाखी का पर्व लौकिक या सांस्कृतिक अधिक है और हिन्दू-मुसलमान सभी निशात और दूसरे मुग़ल बागों में जाकर उनकी शोभा-

श्री लूटते हैं। मुगल बाग तो कश्मीर की अनुपम निधि हैं। इनकी मोहक छटा दर्शनीय है—

सुबह दरबागे निशातो शाम दरबागे नसीम।
शालामारो, लालाज़ारो, सैरि कश्मीर अस्तोबस्त।

[सुबह निशात में, शाम नसीम बाग में, शालामार तथा लाला के फूलों की वाटिकाएं—बस यही तो कश्मीर में देखने योग्य हैं।]

बैसाखी के अतिरिक्त कश्मीर में सिख सम्प्रदाय के मतावलम्बी गुरु नानक दिवस, गुरु गोबिंद सिंह दिवस आदि भी पूर्ण निष्ठा और श्रद्धा के साथ मनाते हैं और गुरुद्वारा (अमीराकदल, श्रीनगर) तथा छटी पादशाही (रैनावाड़ी-श्रीनगर) में भजन-कीर्तन तथा 'ग्रन्थसाहब' के पाठ आदि का आयोजन भी करते हैं।

मुसलमानों के पर्व :—कश्मीरी मुसलमान वे सभी पर्व-उत्सव मनाते हैं जो भारत या अन्य मुस्लिम देशों के मुसलमान मनाते हैं लेकिन यहां उन पर स्थानीय रंगों की गहरी छाप है। मुसलमानों के पर्व ईस्वी सन् के अनुसार निश्चित तिथियों पर नहीं मनाये जाते वरन् वे इस्लामी कैलेण्डर के अनुसार चन्द्रदर्शन द्वारा निर्धारित तिथियों पर मनाए जाते हैं। इसलिए भारत के अन्य जाति-सम्प्रदायों के पर्व जहां लगभग एक ही ऋतु और महीने में मनाये जाते हैं वहां मुस्लिम त्योहार एक ही ईसवी महीने में नहीं आते। मुसलमानों के विशेष पर्व व उत्सव हैं बारावफात, मैराज आलम, शबे-बरात, शबेकद्र, ईदुल्फ़ितर, ईदुल्जुहा और मोहर्रम। कश्मीर में 'बारावफ़ात' विशेष एहतराम के साथ मनाई जाती है जबकि भारत के दूसरे भागों में उसे एक विराट उत्सव का रूप नहीं दिया गया है। हज़रतबल (दरगाह) में दो सप्ताह तक मेला लगता है जहां प्रत्येक वृहस्पतिवार और शुक्रवार को अधिक भीड़भड़क्का और चहल-पहल होती है। यह उत्सव इस्लाम धर्म के अंतिम पैगम्बर हज़रत मोहम्मद साहब की पुण्यतिथि के उपलक्ष्य में मनाया जाता है। हज़रत मोहम्मद साहब का निधन इस्लामी महीना रबीउल अव्वल की बारह तारीख को हुआ था, इसलिए उसे 'बारावफ़ात' कहा जाता है। इस दिन मुसलमान घरों में चिरागां करते हैं, मस्जिदों में 'वाज' (प्रवचन) और दरूदखानी का विशेष आयोजन किया जाता है। लेकिन हज़रतबल को विशेष महत्व इसलिये दिया जाता है कि वहां हज़रत मोहम्मद

के सिर के चन्द शुभ बाल (मोए मुकद्दस) हैं। 'मोए मुकद्दस' के दीदार उस दिन तथा उसके पश्चात् आने वाले शुक्रवार को विशेष रूप से कराये जाते हैं। कहा जाता है ये पवित्र बाल सन् १७०० में ख्वाजा नूरुद्दीन बीजापुर से कश्मीर लाये थे। यहां लगभग दो सप्ताह तक दुकानें सजाई जाती हैं, जलपानग्रह का प्रबन्ध किया जाता है, सरकार की ओर से प्राथमिक चिकित्सा तथा यातायात का विशेष प्रबन्ध किया जाता है। पुलिस यात्रियों की हर प्रकार की सुविधा का ध्यान रखती है। हजरतबल की मस्जिद ठीक डलझील के निकट नव-निर्मित रूप में अत्यन्त भव्य और चित्ताकर्षक है। भारत में यह अपने ढंग की अद्वितीय मस्जिद है।

अन्य धार्मिक उत्सवों में ईद यहां लगभग उसी रूप में मनाई जाती है जिस रूप में भारत के अन्य स्थानों में मनाई जाती है, लेकिन उसका यहां स्थानीय रंग देखने की चीज है। रमज़ान का महीना आते ही स्त्रियां अर्धवृत्ताकार नाचते हुए, या एक दूसरे के कधों पर बाहें डालकर 'रोफ़' नामक लोकगीत से फ़िज़ा को मादकता प्रदान करती हैं। 'रोफ़' कश्मीरी मुस्लिम महिलाओं का लोकप्रिय गीत है। इस गीत के दो बोल होते हैं, पहला बोल 'वुज' और दूसरा बोल 'वकनय' कहलाता है। रमज़ान प्रारम्भ होने पर स्त्रियां गाती हैं :—

व्यसिये जानिजान वंति जानानस,
माहि रमज़ानस वन्दहव जान।

[अरी मेरी प्राणप्रिय सखि, मेरे प्रिय से कह दे कि रमज़ान का महीना आ गया है और मैं उस पर प्राण-अर्पण करना चाहती हूँ।]

पॉर पॉर लगहव हकि सुबहानस,
युस छ श्रज रहमत बाग्रावान।

[मैं पाक परवरदिगार (परमेश्वर) पर बलिहारी जाती हूँ, वही तो लोगों में रहमत बांटता है।]

दोह दोह रोजदार बाईमानस,
रोज़ छय जनतिच वथ हावान।
ईद श्रायि शादि छय मुसलमानस,
माहि रमज़ानस वन्दहव जान।

[ईमान वाले नितप्रति रोज़ा रखते हैं। रोज़ा रखने से जन्नत का मार्ग ज्ञात होता है। ईद आयेगी तथा मुसलमानों के लिए खुशी का पैगाम लायेगी। मैं रमजान पर बलिहारी जाती हूँ।]

और जिस दिन ईदुल्फितर होती है उस दिन बालिकाएं एवं युवतियां दो-दो की टोलियां बनाकर इस प्रकार 'रोफ़' गाती हैं :—

प्रथम टोली —ईद आइ रस रस,
[सखि ! ईद धीरे-धीरे आ गई है ।]

दूसरी टोली—ईदका वसवय,
[सखि ! ईदगाह चलें ।]

प्रथम टोली —ईद आइ सोरान,
[ईद का दिन खत्म होने को है ।]

दूसरी टोली —कोनँ छिव नेरान
[घर से क्यों नहीं निकल पड़ती हो ?]

मोहर्रम के दिन यहां अन्य प्रदेशों के समान ताज़िए नहीं निकाले जाते । अलम के साथ बड़े-बड़े मातमी जलूस निकाले जाते हैं जो कश्मीरी तथा उर्दू में मर्सिये (शोकगीत) समवेत स्वर में गाते चलते हैं । यहां भी केवल शिया ही मातम करते तथा शोकसभाएं—'मजलिसें'—आयोजित करते हैं । कश्मीरी शिया सम्प्रदाय २१ मार्च को 'नव रोज़' का पर्व भी मनाते हैं परन्तु उस अपार हर्षोल्लास के साथ नहीं जो ईरान या अफगानिस्तान में देखने को मिलता है ।

कश्मीरी पंडितों के पर्व :—कश्मीरी पंडितों के कुछ विशिष्ट पर्वों में शिवरात्रि, नवरेह, रामनवमी, मेला क्षीरभवानी, अमरनाथ की यात्रा उल्लेखनीय हैं । मकर संक्रांति का पर्व भी यहां मनाया जाता है । महीने की जिस तिथि को सूर्य एक राशि से दूसरी राशि में प्रवेश करता है उसे संक्रान्ति कहते हैं । सूर्य १२ महीने में १२ ही राशियों में परिभ्रमण करता है । छह महीने उत्तरायण होता है और छह महीने दक्षिणायन । जब सूर्य १२ राशियों में परिभ्रमण करने के पश्चात् मकर राशि में प्रवेश करता है तो वह दिन मकर संक्रांति कहलाता है । सूर्याराधन का यह सबसे बड़ा पर्व है और भारत के प्रत्येक प्रदेश में किसी न किसी रूप में मनाया जाता है । कहा जाता है जैसे इस दिन सूर्य उत्तरायणोन्मुख होता है उसी प्रकार दिवंगतात्मा इस ओर जाती है । सूर्य के उत्तरायण की ओर प्रवृत्त होने के कारण इस दिन से शीत-प्रकोप कम होने लगता है । उत्तरी भारत में प्रयाग आदि तीर्थस्थानों पर इस दिन स्नान करने का विशेष महत्व है । इस वर्ष मकर संक्रांति को वहां

कुंभ के मेले पर ८०-८५ लाख व्यक्तियों ने स्नान किया। नदी में, विशेषकर संगम पर, स्नान करने से व्यक्ति नीरोग, अदीन रहता है। ब्राह्मणों को तिल-खिचड़ी का दान दिया जाता है। तमिलनाडु में 'पोंगल' नाम से मकर संक्रांति का पर्व मनाया जाता है। वहां सूर्य को फ़सल का देवता समझ कर उसकी पूजा की जाती है। कश्मीरी पंडित भी इस दिन स्नान-पूजा आदि के साथ यह पर्व मनाते हैं और उपवास भी रखते हैं।

वसंतपंचमी यहां 'सोंत' नाम से मनाई जाती है। एक टोकरी में धान भर कर रखते हैं, उस पर दही की प्याली, अखरोट, भात, फूल आदि रखते हैं और प्रातः उठकर इन्हीं के दर्शन करते हैं। गांव में, खुले मैदानों में युवक खेलते हैं और मेला भी लगता है।

इनके पश्चात् कश्मीरी पंडितों का सबसे बड़ा पर्व शिवरात्रि फाल्गुण की अमावस को मनाया जाता है। कश्मीरी पंडित शैवमतानुयायी हैं और वे शिव को भगवान का ही स्वरूप मानते हैं। इसका प्रबल प्रमाण यह है कि यहां प्रायः प्रत्येक मंदिर में शिवलिंग है तथा श्री शारिका, श्री शिवा, श्री कालिका आदि शक्तियों की स्थापनाएं शाक्तमत के प्रचार को प्रकट करती हैं। शिवरात्रि के परम पवित्र उत्सव का महत्वपूर्ण वर्णन कश्मीर के विख्यात विद्वान उत्पलदेव ने अपनी कृति 'शिवरात्रि' में यौगिक अर्थ के रूप में किया है। जब मनुष्य इस दृश्यमान जगत् से पराङमुख होकर—इन्द्रिय, मन, चित्त-बुद्धि सभी को अन्तर्मुखी बना लेता है तो उसे आत्मसाक्षात्कार होता है, आत्म-ज्ञानोपलब्धि होती है, मानो जगत् का रूप-रंग सभी कुछ अन्तरात्मा में समाविष्ट हो जाता है। इस परम पवित्र रात्रि में बड़े-बड़े महात्माओं ने परमगति प्राप्त की है।

शिवरात्रि पर भैरव-नाथ शिव और मातृचक्र सहित महाशक्ति की पूजा की जाती है। पांच या तीन दिन तक शिव-शक्ति की पूजा होती है। रात्रि महाशक्ति, महामाया भगवती का ही रूप है जो जीवों को आनंद प्रदान करती है। 'सप्तशती' में कहा गया है कि "या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः"। महामाया भगवती को वेदों में 'रात्रि' के नाम से अभिहित किया गया है—"संवेशिनीं संयमनीं ग्रह नक्षत्र मालिनीम्। प्रपन्नोहं शिवां रात्रीं भद्रे परमशीमहि,"—कार्य व्यापार से विमुक्त करने वाली, सूर्य, नक्षत्र आदि ग्रहों की माला धारण करने वाली उस

शिव (कल्याणमय) रात्रि की शरण जाता हूँ। उत्पलदेव ने कहा है—"यत्र सोऽस्तमयमेति विवस्वान्, चन्द्रमः प्रभृतिभिः सहसैवः कापिसा विजयते शिवरात्रि, स्वप्रभा प्रप्तर भास्वर रूपा"—जिसमें सूर्य-चन्द्र आदि का अस्त हो जाता है वह शिवरात्रि सबसे उत्कृष्ट है क्योंकि इसमें सूर्यचन्द्रादि के प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती। रात्रि कहलाने पर भी यह अपनी दीप्ति से देदीप्यमान रहती है, फिर भक्त के लिए अंधकार कहां रहेगा? उसे तो उस प्रकाश का साक्षात्कार होता है जो सूर्य को भी प्रकाशित करता है। उपनिषद में कहा गया है—"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकम् नेमा विद्युतो भाति कुतोयमग्निः। तमेव भान्त मनुभाति सर्व तस्य भासा विश्वमिदं विभाति"—उस प्रकाश स्वरूप परमात्मा के पास सूर्य, चन्द्र, तारक, बिजली और अग्नि का प्रकाश कहां? उस प्रकाशस्वरूप परमात्मा के चमकने से ही तो सब चमकते हैं, उसी से तो विश्व भी प्रकाशमान रहता है। ऐसे प्रकाशस्वरूप परमात्मा का पूजन इस महारात्रि में करके ही परमगति प्राप्त की जाती है।

'शिवरात्रि' का शाब्दिक अर्थ है कल्याण करने वाली रात्रि। इसे 'शिवस्य रात्रि' इसलिए कहा जाता है कि इस रात्रि में शिव ने अपना परम-ज्योतिर्मय रूप प्रकट करके ब्रह्मा और विष्णु के अहंकार का दमन किया था। कश्मीरी पंडितों में शिवरात्रि उसी धूमधाम से मनाई जाती है जैसे ईद या दीपावली। शिवरात्रि के ५-६ दिन पूर्व घर की सफाई, लिपाई-पुताई होती है और नाना प्रकार के व्यंजन तैयार किये जाते हैं। मांस इस दिन का विशेष आहार होता है। लोग इस दिन एक-दूसरे को बधाई देते हैं। लड़कियां पीहर जाती हैं और वहां से ढेर-सारे उपहार तथा अच्छी-खासी नकदी लाती हैं। मिट्टी के घड़े में भीगे अखरोट विशेष रूप से देते हैं। इस दिन कश्मीरी मुसलमान अपने हिन्दू भाइयों को शिवरात्रि की मुबारकबाद देने उनके घर जाते हैं। इस पर्व का सांस्कृतिक तथा सामाजिक महत्व भी कम नहीं है। सद्भावनापूर्ण वातावरण का सुखद आलोक सर्वत्र फैला दिखाई देता है और मंदिरों में शिव-शक्ति की आराधना के कल्याणप्रद मंत्रों का सुखद कर्णप्रिय निनाद श्रवणगोचर होता है।

नवरात्र या 'नवरेह' कश्मीरी पंडितों के लिए नव वर्ष के शुभागमन का अभिसूचक है। इस पर्व के चारों ओर कई-एक पौराणिक प्रसंग लिपटे हुए हैं, फलस्वरूप यह भिन्न स्थानों पर भिन्न प्रकार से मनाया जाता है। नवदिवसीय

यह पर्व आदि शक्ति के पूजनार्थ मनाया जाता है। शिव-पत्नी दुर्गा ही आदि शक्ति है जो अमांगलिक एवं आसुरिक शक्तियों के संहार के लिए महाकाली, महादुर्गा, महिषासुर मर्दिनी के नाम से अभिहित की जाती है। कहा जाता है विवाह के पश्चात् शिव जी ने यह शर्त लगाई थी कि उमा वर्ष में केवल एक बार १० दिन के लिए पितृ-गृह जा सकती है। कश्मीर में विवाहित पुत्रियां अपने माता-पिता के घर जाती हैं और वहां से मनवांछित उपहार प्राप्त करती हैं। यह 'सोंत' के समान ही मनाया जाता है। चैत्र शुक्ला प्रथमा को 'नवरेह'—नव वर्ष का पर्व पूर्ण उल्लास के साथ मनाया जाता है, दामादों को विशेष दावतें दी जाती हैं, सभी नव वस्त्र धारण करते हैं और जगह-जगह मेले लगते हैं, विशेषकर गांव में। इस अवसर पर स्त्रियां मधुर स्वर में गा उठती हैं :—

नोव नवरेह सोन्त है आवै,
यि कुसम्रय वेदिये बोय म्योन आवै।
हस्त्यन खसिथ आंगनस चावै,
आंगनस पेयमय छतरे छाय।
तथ तल लभिमय मोक्त फल्यढाय,
तिमनी करिमय मालै।

[सखियो ! नया साल और वसंत एक साथ आ गये हैं। यह कौन आया ? यह मेरा भाई है, हाथी पर चढ़कर आंगन में आया है। आंगन में पड़ी उसकी परछाईं में मुझे मोती के दाने मिले, उनकी मैंने माला बनाई। सखियो ! नया साल व वसंत हमें सुख देने आए हैं।]

रामनवमी का पर्व मर्यादा पुरुषोत्तम राम के जन्म दिन के उपलक्ष्य में मनाया जाता है। इस दिन मंदिरों में हवन भी किया जाता है। कश्मीर में कहीं-कहीं राममंदिर भी हैं। भाद्रमास के शुक्लपक्ष में गणेश चतुर्थी का पर्व 'पन' के नाम से मनाया जाता है। देवी को प्रसन्न करने के लिए सवासेर आटे की बड़ी पूरियां (रोठ) बनाई जाती हैं जिन्हें अपने परिचितों को बांटा जाता है। जून-जुलाई में 'हारनौमी' भी कश्मीरी पंडित मनाते हैं। हारीपर्वत पर शारिका के मंदिर में पूजा, यज्ञ, अनुष्ठान का आयोजन किया जाता है। विजयदशमी का उत्सव भी यहां मनाया जाता है लेकिन इस अवसर पर कश्मीरी पंडितों की अपेक्षा बाहर के आए हिन्दू लोग अधिक उत्साह से भाग लेते हैं।

मेले—क्षीर भवानी का मेला, ज्येष्ठ अष्टमी को श्रीनगर से २१ कि० मी० दूर तुलामुला नामक गांव में लगता है। यह पर्व राग्न्या देवी --क्षीर-भवानी - के जन्मदिन के कारण अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। यहां भवानी का मंदिर और एक जलकुण्ड है, इस जलकुण्ड का रंग भी परिवर्तित होता रहता है। इस परिवर्तित जलरंग के दर्शन करना ही भगवती के दर्शन करना है। अष्टमी तथा पूर्णिमा के दिन यहां अधिक संख्या में कश्मीरी पंडित एकत्रित होते हैं और यज्ञादि के कारण यह तीर्थस्थान एक पावन तपोवन-सा प्रतीत होता है। अविवाहित युवक-युवतियां अपने मनोरथार्थ उमंग से प्रदक्षिणा करते हैं। देवी पर दूध, चावल, शक्कर का अर्घ्य चढ़ाया जाता है। यह पर्व आध्यात्मिक होते हुए भी एक विराट मेले का रूप धारण कर चुका है। ऐसा विश्वास है कि इस अवसर पर वहां कोई मांस खाकर नहीं जा सकता ; चाहे हिन्दू हो या मुसलमान। यदि कोई मांस खाकर जायेगा तो उसका अनिष्ट होने की आशंका रहती है।

आषाढ़ मास के शुक्लपक्ष में वैरीनाग में—झेलम नदी के उद्गमस्थल पर—एक विशाल मेला लगता है यहां एक उपवन है जिसे १६१५ में जहांगीर ने बनवाया था। एक तालाब ५४ फुट गहरा है जो असंख्य ट्राउट मछलियों से भरा है। यही तालाब झेलम नदी का उद्गमस्थल है। कहा जाता है देवी वितस्ता को वैरीनाग से प्रकट होना था लेकिन वह शिवस्थान था इसलिए वहां से हटकर वह उत्तर-पश्चिम की ओर एक मील की दूरी पर 'विथावुन्ना' नामक चश्मे से प्रकट हुई और उस चश्मे का नाम 'विरह नाग' (विरही चश्मा) हो गया। श्रीनगर से ४८ कि० मी० दूर शोपैयां के निकट 'कपालमोचन' नामक एक स्थान है जहां तीन चश्मे हैं। बड़े चश्मे में शिवलिंग है और कुछ प्राचीन तथा दुर्लभ मूर्तियां भी हैं। श्रावण की द्वादशी को यहां मेला लगता है और लोग विगत वर्ष में दिवंगत परिजनों का श्राद्ध करते हैं, दान-पुण्य भी कुछ अवश्य करते हैं। पापों से बचने के लिए सोने-चांदी की मूर्तियों का दान भी किया जाता है। श्रीनगर से २२ कि० मी० दूर 'क्षरिय' नामक गांव के निकट एक ज्वालामुखी पहाड़ है, इसी पहाड़ी के सन्निकट एक प्राचीन मंदिर है। यहां आषाढ़ मास में एक मेला लगता है और लोग वहां चश्मे में स्नान करके देवी की पूजा करते हैं। कहा जाता है यह चश्मा अनेक गुप्त रोगों के लिए अति लाभप्रद है।

उर्स :—कश्मीर सूफी-सन्तों की पावनभूमि है। यहां स्थान-स्थान पर ज़यारतगाहें बनी हुई हैं जहां कश्मीरी मुसलमान बड़ी श्रद्धा एवं निष्ठा अभिव्यक्त करते हैं। ऐसे पावन स्थानों पर प्रतिवर्ष 'उर्स' लगते हैं और मुसलमान वहां हजारों की संख्या में उपस्थित होकर रात्रि में दरूदखानी करते हैं। ऐसे उर्सों में विशिष्ट हैं :—शेखनूरूद्दीन वली (च्रार शरीफ), जिनका उर्स ६ रमज़ान को होता है। पीरदस्तगीर अब्दुलकादिर जीलानी (खानियार, श्रीनगर) का उर्स ११ रबीउलअव्वल को होता है। हजरत शेख हमज़ा मखदूम साहब का उर्स २४ सफ़र को होता है, मीर हमदानी और शाहे हमदान के उर्स क्रमशः १७ रबीउल अव्वल और ६ जिलहज को लगते हैं। इनके मज़ारों पर जाकर स्त्रियां डोरे बांधती हैं और मुरादें मांगती हैं। ये उर्स कश्मीरी मुसलमानों की धर्मपरायणता के भी द्योतक हैं। शेख नूरुद्दीन (१३७७-१४४०) के उर्स पर तो कश्मीरी पंडित भी जाते हैं और अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हैं। कहा जाता है लल्लेश्वरी या लल्लद्यद (१४वीं शताब्दी) ने नूरुद्दीन को स्तनपान कराया था क्योंकि उन्होंने जन्म लेने के उपरान्त कई दिन तक दुग्धपान नहीं किया था। नूरुद्दीन को पंडित लोग 'नुन्दरिषी' कहते हैं और उनके श्लोकों का पाठ हिन्दू-मुसलमान समान श्रद्धाभाव से करते हैं। वह मानवतावादी संत हिन्दू, मुसलमान दोनों को समान रूप से प्रेम करता था। एक स्थान पर कहते हैं "ईश्वर का प्रेमी वह है जो प्रेम में जलता है प्रेमी को भी भला कभी नींद आती है ?" उनकी रहस्यवादी व दार्शनिक कविताएं 'रिशी नामा' से कश्मीर में अति लोकप्रिय हैं। सद्भावना और सांस्कृतिक एकता का अभिनव संदेश उनकी कविता की प्रमुख विशेषता है। साम्प्रदायिक एकता और भाई-चारे की जो आवाज़ उन्होंने बुलंद की उसकी अनुगूंज से आज भी दिशाएं प्रतिध्वनित हैं।

अमरनाथ की यात्रा :—अमरनाथ के पावन तीर्थ पर श्रावण पूर्णिमा के दिन एक विशाल मेला लगता है और सारे भारत से यात्री वहां जाते हैं। अमरनाथ की गुफा श्रीनगर से ८८ मील दूर है और १२७२९ फुट की ऊंचाई पर स्थित है। यहां एक प्राकृतिक गुफा है जिसकी लम्बाई ५० फुट है और ऊंचाई ४० फुट तथा चौड़ाई २५-३० फुट है। इस गुफा के अन्दर बर्फ का स्वनिर्मित शिवलिंग है जो छोटा बड़ा होता रहता है और पांच फुट ऊंचा बनता है। श्रावण की पूर्णिमा को लोग उसके दर्शन करते हैं। यह बर्फ़ का शिवलिंग ही अमरनाथ देव कहा जाता है। कहते हैं अमरनाथ का पता

'मलिक' नाम के किसी व्यक्ति ने न जाने कब दिया था। लेकिन आज भी अमरनाथ के चढ़ावे का एक भाग विशेष 'मलिक' वंशीय मुसलमान को ही दिया जाता है। श्रीनगर के दशनामी अखाड़े से छड़ी मुबारक आरम्भ होती है और उसे भैरों जी का पुजारी लेकर चलता है। यात्रा कई दिनों में तय की जाती है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि एक बार भगवान शिव ने पार्वती को अमरनाथ गुफा में एक ऐसी कथा सुनाई थी जिसमें अमरनाथ की यात्रा तथा मार्ग के अनेक पावन स्थलों का वृत्तान्त था। बाद में यही कथा 'अमर कथा' के नाम से विख्यात हुई। इसी दिन रक्षाबन्धन का पर्व भी मनाया जाता है। कश्मीरी पंडितों का शंकराचार्य पर्वत (ऊंचाई : एक हज़ार फुट) पर भारी मेला लगता है। शंकराचार्य का मंदिर राजा संधीमत (शासनकाल २६२९ से २५६४ ई० पू०) ने बनवाया था, बाद में राजा गोपादित्य तथा ललितादित्य ने इसकी मरम्मत कराई। यहां शिवमंदिर का शांत वातावरण बड़ा मोहक होता है, ऐसा लगता है सम्पूर्ण कश्मीर वादी उसके चरणों में श्रद्धानत है। कश्मीरी पंडितों में इस दिन राखी बांधने का रिवाज नहीं है, वे मंदिरों में पूजा-पाठ ही अधिक करते हैं।

उपर्युक्त पर्यवेक्षण के आधार पर यह निष्कर्ष सहजतः निकाला जा सकता है कि कश्मीर के पर्वोत्सव भारतीयता की गंगा-जमना प्रवाहित करते हैं। भारतीय संस्कृति का उज्ज्वल समन्वयात्मक रूप, धार्मिक सहिष्णुता तथा भाई-चारा, शंखों का कर्णप्रिय अनुनाद, मस्जिदों में 'अल्लाहो अकबर' की सदा, ईद मिलन, उर्सों में दरूदख़ानी, मेलों में उन्मुक्त हर्षोल्लास, शिव-विष्णु का पूजनार्चन, इन पर्वों का वैशिष्ट्य है। राष्ट्रीय पर्वों में गणतंत्रदिवस और स्वतंत्रता दिवस भी यहां पूर्ण देशानुराग के साथ मनाये जाते हैं। इन अवसरों पर परेड और सांस्कृतिक कार्यक्रम दर्शनीय होते हैं। इस प्रकार कश्मीर के सभी पर्व-उत्सव भारतीयता का चिरस्पंदन हैं।

———

डोगरी लोक-कथाओं में भाग्य की देवी–विह्माता

—ओम गोस्वामी

डोगरी लोक-कथाओं में भाग्यवाद उस अतार्किक दर्शन का ऐहिक स्वरूप है जिसमें क्रिया, घटना, कार्य आदि का 'कारण' किसी तर्क संगतता की कसौटी पर नहीं बल्कि 'पूर्व-निधारिति' पर अवस्थित माना जाता है। जीवन के उतार-चढ़ावों की संचालक शक्ति का संज्ञारूप 'भाग्य' है। पूर्व-जन्म के कर्मों का फल हम इस जनम में भुक्तते हैं—यह पौर्वात्य जन-मानस का विश्वास है। अतएव मायास्वरूप जगत में व्यक्ति के सारे क्रिया-कलाप पूर्व-निर्धारित हैं। इस निर्धारिति को 'फेटलिस्टों' ने नियति भी कहा है। संस्कृत शास्त्रज्ञों ने इसे ''दैव' की संज्ञा दी है। भारतीय आत्म-संधान की अपूर्व कृति 'योग वाशिष्ठ' में पौरुष और दैव के समुच्चय से सफलता (विजय) का होना संभव माना गया है अर्थात् निर्धारिति के साथ-साथ व्यक्ति के सही प्रयत्न (कर्म) भी उसे कामना की सिद्धी तक ले जाते हैं। लोक-मानस अपनी अनेक पेचीदगियों के बावजूद कार्य-कारण का न्याय न मानकर तर्कहीन सहज विश्वास में आस्था रखता है। अपने अथवा किसी दूसरे के जीवन में किसी 'नितांत असंभव' अथवा 'सहज संभव' घटना का घटित होना उसे भाग्य का विधान प्रतीत होता है। पहाड़ से लेकर ज़र्रे तक, मानव से लेकर चीटी तक ये सब 'विधि' की रचना माने जाते हैं। यही कारण है कि लोक में—वाङ्मय और मानवीय अभिव्यक्ति के अन्य माध्यमों में भी—भाग्यवादी स्वर प्रखरता से मुखरित हैं। परन्तु योग वाशिष्ठ के अनुसार 'दैव के कारण परिणाम एक निराधार कल्पना है—अतएव भाग्य, दैव या विधि की कोई भौतिक सत्ता नहीं'। इस वेदान्तिक विचारधारा के विपरीत मनुष्य का अहृचेतन सदैव एक विधात्री शक्ति को स्वीकार करता आया है। यह चेतना ज्ञान के आत्मशून्य तल का स्पर्श करती

हुई अन्धश्रद्धामयी रेखाओं पर पनपी है। मनुष्य के सहज विश्वासी मन ने कल्पना के द्वार से हर घटना (कार्य) की व्याख्या के लिये कोई सीधी-साधी कल्पना की है। ये कल्पना समूह की आधिकारिक और अनुभवी इकाई से आने के कारण बिना हीलो-हुज्जत के अपने वर्ग में स्वीकृत होती चली गई। अवधि बीतने के साथ-साथ इसमें अनेक लोक-अभिप्राय और चमत्कारिक प्रसंग स्वतः जुड़ते चले गये। परिणामतः आज जो लोक-कथाएं अथवा गीति-कथाएं उपलब्ध हैं—वे चाहे तर्कशास्त्रीय संगति पर पूरी न उतरें—परन्तु उनकी मानवशास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक महत्ता अक्षुण्ण ही है। जब भी ये जानने की आवश्यकता महसूस होगी कि मानव का चिन्तन इतना प्रौढ़ कब और कैसे हुआ—उस समय उपर्युक्त सामग्री ही संदर्भ तथा तुलना के लिये काम में लानी पड़ेगी।

भाग्य : एक आदिम स्वर :—मानव जाति के कार्य-व्यापार को परिचालित करने वाले कुछ मूल स्वर होते हैं। इन सब में प्रधान स्वर है—भाग्य का, जिसकी प्रभु-शक्ति के समक्ष मनुष्य नगण्य है। सृष्टि का सारा विधान कठपुतली के खेल-सा है। इस खेल का नियंता तमाम सूत्र थामे अदृश्य में विराजमान है। इसी अदृश्य समर्थ को 'भाग्य' और इसके प्रत्यक्ष या व्यावहारिक स्वरूप को 'प्रारब्ध' कह कर लोक-मानस ने सम्बोधित किया। अनेक स्थलों पर लोक-मानस ने भाग्य को 'रचना' और विधि को 'रचनाकार' माना है। गोस्वामी तुलसीदास के कृतित्व में समूची सृष्टि को जिस प्रारूप के अनुरूप चलते दिखाया गया है उसे **'विधि ने रच राखा है !'**

विधि का दण्डनायिका अवतार :—विधि को डोगरी लोक-कथाकार ने बिद्‌माता कहा है। यही भाग्य की अधिष्ठात्री है। लोक-कथाओं में इसके और भी बहुत से नाम हैं। **होनी** (होनहार), **तकदीर** (भाग्य, भाग), **बिधि, विधात्री, विधाता** इत्यादि। होनी के इत्तिफाक, संयोग आदि दूसरे पर्यायवाची भी हैं। होनी तीन बरस, साढ़े सात बरस (साढ़सती) या बारह बरस तक व्यक्ति के भाग्य को ग्रसती है। भाग्य को ग्रहण लगा रहता है। यह समय व्यक्ति पर बुरे दिनों का होता है। 'होनी' बिद्‌माता का दण्डदात्री स्वरूप है। इसके बारे में लोक-कथाकार का कथन है—**"महाराज ये किसी पर न बीते। सही आदमी को बावला, और राजा को भिक्षाजीवी बना देती है। कहते हैं पाण्डवों पर जो बीती तो उन्होंने जूआ खेला। अपना सारा राजपाट हार गए।**

बारह बरस का बनवास भोगना पड़ा।" होनी के साथ यह लोक विश्वास सदैव जुड़ा रहता है कि वह एक निश्चित अवधि तक व्यक्ति पर कहर ढाती है। अतएव होनी बिद्‌माता का दण्डनायिका अवतार है। बिद्‌माता के दो रूप 'होनी' और 'विधाता' सांसारिक स्त्रियों का रूप धारण किये रास्ते में बैठे हैं— इस बात की आज़माइश करने कि उनमें से व्यक्ति के भाग्य का नियंता कौन है? वहां बैठे-बैठे उन्हें एक लड़का दिखाई देता है। होनी विधाता को उसके बारे में सुनाती है—"बहन देखी मेरी करामात! मैं इस लड़के पर आई थी। सो इसके मां-बाप मरे। लोगों द्वारा इसे प्रताड़ना मिली, और आज मैंने इसका घर-द्वार छुड़ा दिया।" उसका ये दर्प पूर्ण कथन सुनकर विधाता हंसती है और उसे बताती है कि इसके भाग्य में ये सब मैंने ही उल्टे हाथों लिखा था। तेरा इस पर बीतना भी मेरे द्वारा निर्धारित था। इस बात पर दोनों में झगड़ा बढ़ता है और फिर शर्त बदती है। दोनों अपनी पूरी-पूरी शक्ति दांव पर लगा देती हैं। अन्ततः होनी हारती है और विधाता के पैर पकड़ कर कहती है— "तू वड़ी है। तेरा लिखा अमिट है। मैं भी तेरे लिखे मुताबिक ही मानव को भोग सकती हूँ अन्यथा मेरी पृथक सत्ता कुछ नहीं।" डोगरी लोक-गीतों में भी यही बात कुछ इस तरह कही गई है—

डाडे लेख लिखे बिद्‌माता, मेटन वाला कोई नाई,
काल देवता सिरै पर गजदा, होनी फराटी पाई।

बिद्‌माता के भिन्न-भिन्न रूपों में 'बड़ा कौन' को लेकर विवाद उठा रहता है। 'होनहार' का नाम होनी और विधाता 'कर्त्री' शक्ति का नाम है। 'संयोग' विधि के कृत्य को कहा है और 'नियति' वह है जिसे किसी अज्ञात शक्ति ने तय कर रखा है। नियति का सम्बन्ध प्रायः भविष्य के साथ है। भूत, वर्तमान तथा भविष्य—ये तीनों विधि के अंगूठे से बधे हैं। परन्तु इसके 'होनी' नामक रूप का अलग ही महत्व है। लोक-कथाकार इसका सहारा लेकर कथा-प्रवाह में बड़े-बड़े मोड़ ले आता है। बुद्धि जिन बातों के लिये तर्क का अवलम्ब लेती है उसी को 'बिद्‌माता की करनी' या 'भाग्य का लिखा' कहकर इस जटिल स्थिति से लोक-मानस निवृत्ति पा लेता है।

ब्रह्मा का लिंग परिवर्तन :—ऊपर उद्धृत प्रसंग में बिद्‌माता के लिये 'विधाता' संज्ञा प्रयुक्त हुई है। परन्तु संस्कृत विधाता जहां पुल्लिंग है वहीं डोगरी कथाओं का 'विधाता' बिद्‌माता के समान ही स्त्रीलिंग है। यह लिंग

परिवर्तन भाषा वैज्ञानिक अध्ययन के अतिरिक्त 'डोगरी लोकमानस' की बनावट समझने में तो सहायक है ही, साथ ही बिद्‌माता का स्वरूप समझने में भी एक ठोस अन्तःसाक्ष्य प्रस्तुत करता है। धर्मशास्त्रों ने जो अधिकार ब्रह्मा को दे रखे हैं वही संस्कारों, नियमों तथा वर्जनाओं में बंधे लोक-मानस ने बिद्‌माता को भी दिए हुए हैं। ब्रह्मा से उसके अधिकारों के हनन के अतिरिक्त लोक-मानस ने उसका पुरुषत्व भी छीन कर उसे बिद्‌माता के समान स्त्रैण बना डाला। विधाता ब्रह्मा का ही नाम है। डोगरांचल में प्रचलित लोक-विश्वास के अनुसार जिस समय बच्चे का जन्म होना होता है उस समय बिद्‌माता अपनी कलम, दवात और तख्ती लेकर नवागत की भाग्य लिपि लिखने, बिन-बुलाए पहुँच जाती है। देव-पुरुष ब्रह्मा चाहे कितना भी बूढ़ा बाबा क्यों न हो, आखिर ठहरा मर्दजात। प्रसवासन्न नारी के कक्ष में पुरुष का प्रवेश वर्जित है। लोक-मानसीय 'अहं-चेतन' के विकास-चिन्ह इस वर्जना में अंकित हैं। फलस्वरूप प्रसव-कक्ष में नारी का प्रवेश ही नियम बना। इसी नियम के बलबूते विधाता का लिंग परिवर्तन हुआ और इस ढंग से लोक-मानस ने उसे प्रसवा के कमरे में दाखिल कराने का रास्ता बनाया। यह नारी अस्तित्व के महत्व की आदिम स्वीकृति है। बिद्‌माता का सृजन लोक-मानस ने जिस मिट्टी से किया वह संस्कारों की कान की पवित्र मिट्टी थी। जब यह मूर्ति सर्वप्रथम बनी होगी, उसी समय से स्त्री स्वातन्त्र्य का प्रथम उद्‌घोष मानना चाहिए।

बिद्‌माता : रूप और स्वरूप :—लौकिक विश्वासों में मान्यताप्राप्त इस देवी की प्रतिमा लोक के मानस-मन्दिर में प्रतिष्ठित है। इसका चित्र लोक-स्मृति में सुरक्षित है। मोरपंख की उसकी कलम है, चन्दन सुगन्ध-पगी उसकी तख्ती है—इनका उपयोग वह लोगों के भाग्य लिखने के लिये करती है। नवजात शिशु की किस्मत की लिखाई वह हाथ पीठ पीछे करके करती है। यदि सीधे हाथों मुंह के सामने करके लिखे तो रहम न आ जाए माई को। तब तो किसी के भाग्य में दुःख, दर्द, मुसीबत रहेंगे ही नहीं। और यदि पृथ्वी से दुःख-क्लेश मिट गए तो इसे भूलोक कौन कहेगा। इस लिये भाग्य की 'लिखारन' ये देवी बड़ी निर्मम है—जो किसी के हिस्से में भूख, नग्नता, गरीबी और किसी के हिस्से में सुख-शांति और धन-धान्य डालती है। किसी को देती है, किसी से छीनती है। जीवन की अवधि भी इसी की इच्छा पर आधारित है। पौराणिक ब्रह्मा को उसके आसन से च्युत करके बिद्‌माता स्वयं

तमाम सृष्टि-चक्र का संचालन कर रही है। सरस्वती ब्रह्मा की बेटी है—बड़ी विदूषी, सर्व-कला अधिष्ठात्री, विद्या के चौक की स्वामिनी, शास्त्रों की लेखिका, हंस के वाहन पर बैठ कर दूध-पानी का निनार करने वाली विवेकनी, विद्या-बुद्धि की भंडारिन, शब्द-ध्वनि-वाणी की अजस्र स्रोतस्विनी। इस तरह लोक की मानस पुत्री—बिद्माता मानो ब्रह्मा की पत्नी ब्रह्माणी (विधि) और बेटी सरस्वती के गुणों को अपने में समो कर डोगरांचल के समस्त वाङ्मय में महिमामयी हुई जा रही है। सच है, इतने लोगों के ललाट की लेखिका कोई परम विदूषी ही हो सकती है। यह कहना कठिन है कि शास्त्रों में उल्लिखित सरस्वती प्राचीन है या डोगरा लोक-मानस की बिद्माता। हां, दोनों में अनेक समानताएं होते हुए भी विषमताओं का क्षेत्र अधिक व्यापक है। दोनों के शील व स्वभाव भिन्न हैं। बिद्माता ज़िद्दी होने के साथ-साथ असूलों की पाबन्द और किसी सीमा तक कंजूस भी है। इसमें आदिम मानव की अपेक्षाएं-अवधारणाएं इतनी स्पष्ट हैं कि कह सकते हैं कि शास्त्रकारों ने इस जन-पदीय देवी को ही सुसंस्कृत बना कर सरस्वती नाम दिया है।

बिद्माता को आप सुख-दुःख से अलिप्त कह सकते हैं। वह किसी के दुःख में दुःखी नहीं और किसी का सुख उसे नहीं छूता। हां, अपने डाले अंकुरों के फल आने पर वह खुश भी होती है। यह खुशी उसकी स्वार्थपरता को चीन्हती है। एक दफा देवता उससे पूछते हैं कि तू आज इतनी खुश क्यों है? वह कहती है—"आज खुश क्यों न हूँगी। मर्त्यलोक में एक विवाह हो रहा है, वहां न तो लड़की के मां-बाप पास हैं और न ही लड़के के। इसीलिये मैं लड़के वालों की तरफ से 'घोड़ियां' (संस्कार गीत) गा रही हूँ और लड़की वालों की ओर से 'सोहाग' (मंगल गान)।"

कोई यदि उसकी इच्छा के विरुद्ध जाने का यत्न करता है तो वह उसकी कोप दृष्टि का भाजन बनता है। यहां बिद्माता का क्रोधी और ईर्ष्यालु स्वभाव मनुष्योचित है। लेकिन साधारण मनुष्यों जैसा नहीं, नीतिवान, चतुर और समर्थ लोगों का क्रोध है उसका। ऊपर जो मंज़र आया उसमें बिद्माता की खुशी एक कूटनीतिज्ञ की खुशी है। ज़िद, ईर्ष्या, क्रोध जैसी स्त्री सुलभ वृत्तियां उसके मानवीय भावभूमि पर अधिक दृढ़ता से प्रतिष्ठित-स्वीकृत होने में सहायक हैं। त्रि-लोकी इसकी खुशामद और गुणानुवाद कर रही है। नारद मानो इसी के लिये नेति-नेति पुकार रहे हैं।

भाग्य ! भाग्य !! भाग्य !!! जन्म से मृत्यु तक—वास्तव में तर्क-बुद्धि द्वारा विचार करें कि बिद्‌माता इतनी क्रूर क्यों है तो हमें ज़रा सरसरी निगाह इतिहास के झरोखे में डालनी पड़ेगी। अध्यातम युग में 'मठ-पंडा-पंडताऊवाद', सामंती युग में 'राजा, अधिकारी-सामंतवाद' की इल्लतों ने साधारण जन पर जो जुल्म ढाए या प्रागैतिहासिक मानव ने जिन प्रतिकूलताओं का सामना किया उनसे उसमें अपनी अक्षमता का बोध जागृत हुआ। साधारण जन महत्वाकांक्षाओं से हीन जीवन गुजारना चाहता है। लेकिन अपने बारे में निर्णय लेने के लिये वह स्वतंत्र नहीं होता। जिसके कारण बार-बार उसे 'गुफा वाली स्थिति' की ओर लौटना पड़ता है। वह महसूस करता है कि वह वेदना और अत्याचारों के पहाड़ों में घिरा है। इसीलिये अपने समस्त दुःखों का जिम्मेवार भाग्य को ठहराया गया और समयान्तर से इलजाम चढ़ा बिद्‌माता के माथे।

डोगरा लोक-मानस के अनुसार मनुष्य का जीवन भाग्य द्वारा नियंत्रित होता है। अतएव भाग्य की देवी बिद्‌माता जन्म से लेकर मरण तक प्रत्येक खुशी-ग़मी के अवसर पर विद्यमान रहती है। जन-मानस में विवाह आदि महत्वशाली अवसरों को डोगरा जन-मानस ने संयोगों का फलितार्थ माना है। जन्म के बाद पालने में सोए बच्चे को हंसाने या रुलाने का श्रेय भी जन-मानस ने बिद्‌माता को ही दिया है, क्योंकि वह बच्चे से हंस-खेल रही होती है। इसी से सम्बद्ध एक लोक-विश्वास यह भी है कि नवजात शिशु के नखों में मैल इसलिये होती है कि बिद्‌माता पुतला गढ़ने और प्राणदान देने के उपरान्त बच्चे से हाथों-हाथ वो बची-खुची मिट्टी इकट्ठी करवाती है जिससे कि उसका बुत गढ़ा गया था। ये मैल वही मिट्टी होती है।

एक लोक विश्वास है कि किसी जीवित व्यक्ति को फलांगने से उसकी आयु घट जाती है। इसलिये 'बिद्‌माता' नामक कथा में वह राजकुमारी के मंगेतर को फलांगती नहीं। बाहिर आने के लिये उसकी चारपाई के नीचे से होकर गुजरती है। इतनी एहतियात रखने वाली देवी स्व-रचित विधान की कितनी पावन्द है—इसे देखकर ही लोक-मानस अपने ललाट के आलेखों को अपरिवर्तनीय मानता है। इसी की प्रतिध्वनि एक लोकगीत में इस तरह अनुगुंजित है—

'बिद्‌माता दे ङूर न पेदे, भाग छुड़े वे बन्नी।'

यमदूत का कार्य भी वह खुद ही करती है। अवधि समाप्त होने पर वह कंजूस लेनदार की तरह अपनी अमानत लेने पहुंच जाती है। प्राण निकालने के लिये वह कई रूप धारण करती है। कई बार वह बुढ़िया का रूप धर कर आती है। लोक-मानस की कल्पना है कि जिस स्त्री का सुहाग छीनने वह आई है—यदि वह झट देहलीज पार करती बुढ़िया के पैर छू ले तो माता उसे सौभाग्यवती होने का वर देगी। तब अपने वचनों से बंधी 'बिद्‌माता' उसके सुहाग को अखण्ड रहने देने को विवश होगी।

बिन मन्दिर पुजे महामाया—राजाओं, मंत्रिओं, दीवानों, सेठों-साहुकारों ने देवी-देवताओं के बड़े-बड़े ला-जवाब मन्दिर निर्मित करवाए—जिनकी कला और कारीगरी पर मनुष्य जाति नाज़ कर सकती है। इन देवालयों में पौराणिक देवी-देवताओं की मूर्तियां बड़ी रस्मों-प्रीतिभोजों से स्थापित की गई थीं। लेकिन ये धनाढ्य-धनिक-वणिक वर्ग अपनी सुविधा और स्वार्थ के अनुसार यश-कामना के लिये ही मन्दिर बनवाता है। किसी दूर-दराज़, जंगल-झंखाड़ में भारत के कृषक के लिये मन्दिर नहीं बने। परन्तु इन कृषकों और निम्नवर्ग के दूसरे लोगों ने जिस देवी को माना है वो ईंट-चूने के मन्दिरों की वासी न होकर मिट्टी के घरौन्दों में बसने वालों के हृदय-मन्दिर की वासिनी है। चाहे किसी शास्त्रकार ने इसकी अपार शक्ति के महिम्न-स्तोत्र की रचना न की हो, लेकिन लोक-वाङमय में इसकी शक्ति-स्तुति के अंबार लगे दिखाई देते हैं। ऋषि-मुनि, देवी-देवता, मनुष्य-पशु सभी के भाग्य की लेखिका यही है। डोगरा लोक-मानस गुंजायमान है—धन्य है बिद्‌माता ! धन्य है जगत् माता !! इन स्वरों को आप किसी डोगरा पंचायत या चौगान में बुज़ुर्गों की महफिल में सुनिये। या अपने नाते-नातिनों को सहलाती बुढ़िया की ज़ुबानी। आदिम जात अपने चौगिर्द की शक्तियों के बारे में बेहद उत्सुक रहती है। इन सब में रहस्यमयी, समादृत और प्रिय है—बिद्‌माता !

शाश्वत प्रश्न और कथा संदर्भ—व्यक्ति के सामने एक शाश्वत प्रश्न है कि उसकी जीवन स्थितियों, सुखों-दुखों, ऊर्ध्व और अधो—गतियों का मूल कहां है ? आदमी की तमाम इच्छाएं पूर्ण क्यों नहीं होतीं ? इसका उत्तर उसने स्वयं ही दिया है—क्योंकि वह बिद्‌माता के अंकुरों (लिपि) के अनुसार जीने के लिये प्रतिश्रुत है। अपना भाग्य बदलने में वह अक्षम है। इसी लिये धन-ऐश्वर्य में पोर-पोर डूबे लोग भी तमाम सुविधाओं के बावजूद अपने कष्टों

से उभर नहीं पाते। इसकी इच्छा के बिना एक पत्ता तक नहीं हिलता। गरीब को गरीबी, अमीर को अमीरी देने वाली भी यही है। डोगरांचल में बच्चे अपने बड़ों से एतद्विषयक कथांश बचपन से ही सुनना शुरू करते हैं और बाद में इसे भाग्य, तकदीर, सितारा आदि नामों से अभिहित करते हैं। ढलती उम्र में विधि-विधात्री के नामों से इसकी पहचान होती है। किसी लोक-कथा में ये झगड़ालू बुढ़िया बनती है और किसी में इसका सौंदर्य वर्णनातीत है। इसी के लिखे कारण कहीं राजा का बेटा शिकारी का घटिया जीवन जी रहा है और कहीं कोई राजकुमारी वेश्या के कोठे पर भीख मांगती हुई निम्न स्तरीय जीवन व्यतीत कर रही है। कहीं और ये कठोर लेखिका भाई (राजकुमार) और बहन का ब्याह रचा रही है। इसके विधान में कुछ अवैध नहीं। 'विद्माता दे अंकुर' लोक-कथा में राजकुमार के होनी को स्थगित करने के सभी प्रयास असफल होते हैं। राजकुमार अन्ततः हार कर उसके चरणों में गिरता है। वह उसे कहती है—**"मेरे पाए दे अंकुरें दा थोआड़ा जन्म-जन्मान्तरें दा सरबन्ध ऐ। अगले जन्म तेरी भैंन तमाकू बनग ते तूं गन्ना। गुड़ बनियै फी तेरा सरबन्ध तमाकुआ नै होग।"** आदमी की अशक्तता और लाचारी इस कथन से कितनी स्पष्ट होकर उभर आती है ! इस प्रश्न का कहीं कोई उत्तर नहीं कि यदि राजकुमार और राजकुमारी का जन्मों-जन्मों से तम्बाकू और सीरे का साथ चला आ रहा था तो इन्हें इस जन्म में बहन-भाई के रिश्ते में पैदा करने की क्या तुक थी ?

नियति और आधुनिक प्रसंग—आज लोग हर चीज़ की युक्ति-संगतता की तलाश में हैं। लेकिन कदली के तने को परत-दर-परत उधेड़ने के बाद रिक्तता का वाहियात-अहसास ही मनुष्य की विडंबना है। लोक विश्वासों में यह देवी मानव निर्मित समाज-व्यवस्था का मज़ाक उड़ाती नज़र आती है। व्यक्ति निर्मित सिद्धांत उसे स्वीकार नहीं। वह स्वेच्छानुसार संयोगों का निर्माण करती है। वह अपनी क्षणिक रचना मानव के नियमों की परवाह क्यों करे ? तो क्या मानव की प्रत्येक स्वच्छन्द उड़ान की खिल्ली उड़ाना इसका प्रमोद है ? शायद हां, शायद नहीं। पर साधारण ज्ञान की बात है कि सुख की चरम प्रतीति के लिये दुःख की रचना ज़रूरी है। इन कथाओं ने मनुष्य को उसकी बेबसी और कमज़ोरी का अहसास पूरी शिद्दत से करवाया। लोक-साहित्य के संदर्भ में अस्तित्ववादी दर्शन की शब्दावली में विचार करना युक्तियुक्त न होगा। परन्तु आज के व्यक्ति-केन्द्रित समाज

दर्शन को आप लोक-कथाओं का प्रधान स्वर भी कह सकते हैं। व्यक्ति की कमज़ोरी, लाचारी देखिये और फिर उसे नियंत्रित करने वाले तत्व। अस्तित्ववाद के भौतिक दृष्टिकोण से लोक-कथाओं का विधिवादी दृष्टिकोण भिन्न है। विधि का सत्ता-क्षेत्र बेहद बृहद है। विष्णु, शिव आदि परमात्मिक शक्तियां भी इसका सिक्का मानती हैं। नियति का स्वरूप विज्ञापन की उपलब्धियों ने काफी कुछ उघाड़ा है। आबादी की बढ़ोतरी से जिजीविषा का संकट, उपाधिमूलक समाज में प्रतिष्ठा का संघर्ष, वर्ग संघर्ष में प्रतिक्रिया-गामी तत्वों द्वारा विरोध आदि कुछ ऐसी स्थितियां हैं जो कि 'मासेज़' में सांझे तौर पर प्रस्तुत हैं। इन्होंने व्यक्ति को नियतिवादी बनाया है। इस दर्शन में पलायनवादी स्थल वहां उपस्थित होता है जहां खगोलविद् परा-पृथ्वीय (एक्स्ट्रा टेरीशियल) उन्नत जीवन की संभावना जाहिर करता है। सूचिका के सिरे पर समा जाने वाले लाखों सूक्ष्म बैक्टीरिया के समान ही इस धरती का अस्तित्व बेहद लघु है—खरबों सितारों में धूल का एक कण। इससे अधिक की गर्वोक्ति नहीं की जा सकती। इसी स्थल पर व्यक्ति नियति को स्वीकार करने लगता है।

लोक-मानस ने अपने को इसी तरह क्षुद्र जानकर अलौकिक शक्तियों की परिकल्पना की थी। सभ्यता की शुरू की सीढ़ियां चढ़ने के उपरान्त ही उसने बिद्‌माता की अलौकिक शक्ति का सृजन किया और उसे प्राथमिक कार्य दिया भाग्य लेखन का। लोक-कथाओं का पात्र भाग्यवाद की उंगली पकड़े बिद्‌माता के मनोरंजन का खिलौना बना रहता है। इल लोक-देवी से अपनी-अपनी शक्ति का शतरंज खेलते विष्णु, ब्रह्मा और शिव भी हार मान बैठे हैं। इसके लोक-आध्यात्मिक रूप को देखकर कह सकते हैं कि डुग्गर के जन-मानस में इस देवी की विशिष्ट मान्यता है।

एतद्विषयक लोक-कथाओं का मन्थन—बिद्‌माता सम्बन्धी लोक-कथाओं के विदोहन से ये निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

इसके लेख अमिट हैं। साधु के रूप में भगवान की एक न चलना। वह अपने हठ की पक्की है। उसे अपने लिखे में फेर-बदल न तो सह्य है और न ही स्वीकार्य। भाग्य को बदलने की कोशिश करने वाले या इसे बदलने का उपाय सुझाने वाले को वह सहन नहीं करती। इस दृष्टि से वह यथास्थिति-वादी है। परिवर्तन-कामियों से इसी कारण गाहे-बगाहे उसका टकराव देखने में आता है।

दिव्य पुरुष अपनी तीक्ष्ण ऐन्द्रिक शक्ति के बल से अनागत में झांकने की सामर्थ्य रखते हैं। इसी लिये बिद्‌माता के मन्तव्य उनसे छिपे नहीं रह पाते। बिद्‌माता से उनकी होड़ लगती है। कभी-कभी वह हारती है किन्तु अधिकतर हार प्रायः विपक्षी की ही होती है। 'संयोग बलवान' में साधु-रूपधारी परमात्मा जब धर्म-संकट में फंसे साहुकार को सलाह देकर लौटते हैं तो रास्ते में बिद्‌माता हाथों में मिट्टी भर-भर कर हवा में उड़ाती दीखती है। साधु पूछता है—"तू क्या कर रही है?" वह दृढ़ता से कहती है—"साहुकार को सलाह देने वाले के सिर में राख डाल रही हूं।" अन्त में बहस होने पर जो वृत्त घटित होता है उसमें बिद्‌माता विजयी होती है। परन्तु 'लेख बदली गे' में महात्मा बिद्‌माता को सही अर्थों में 'बख्त' डाल कर रख देता है। बिद्‌माता को सेठ के दो लड़कों और एक लड़की के भाग्य का पुनर्लेखन करना पड़ता है। बिद्‌माता ने जितनी आयु लिख डाली और जितना 'रिज़क' लिख दिया—वह तो उसे प्रत्येक व्यक्ति को उपलब्ध कराना ही पड़ेगा—यह सूत्र पकड़ कर साधु उसे अपना लिखा पलटने पर मजबूर करता है। इस कथा में भाग्य पर बुद्धि की विजय दिखाई गई है। और प्रकारान्तर से कर्मवाद की पुष्टि की गई है।

विष्णु भगवान जिस भाग्य के लिखे को मिटाने की जुर्रत नहीं रखते, उसे बदलने की सामर्थ्य उनके सच्चे भक्तों में है। सच्चे भक्त की महिमा का दिग्दर्शन भक्त-कथाओं में होता है। ईश्वर-भक्त साधु का वर सेठ-सेठानी के भाग्य को बदल डालता है।

अनादि शक्ति और दृढ़ संचालिका—धर्मशास्त्र भिन्न-भिन्न शक्तियों को विश्व की अनादि शक्ति सिद्ध करने का यत्न करते हैं। कहीं शिव को ब्रह्मा, विष्णु से ऊपर और कहीं ब्रह्मा या विष्णु को सर्वोपरि शक्ति कहा है। परन्तु लोक-मानस ने इन तीनों के लिये भी अगम-अगोचर शक्ति की अवधारणा की है। 'त्रैनें देवतें दा म्हान' लोक-कथा में एक बार शिव, ब्रह्मा और विष्णु स्वयं निर्णय करते हैं कि हम तीनों ही शिव-मण्डल चला रहे हैं। उनकी इस दर्पोक्ति पर दिग्मण्डल में प्रलयंकारी बिजलियां गिरने लगती हैं, उनचास प्रकार की हवाएं चलने लगती हैं और धरती आकाश एक होने को विकल हो उठते हैं। तब तीनों घबरा कर इस अदृश्य शक्ति के आगे गिड़गिड़ाते हैं और अपनी गर्वोक्ति के लिये क्षमा-याचना करते हैं। लोक-कथाकार का कहना है कि यह वह शक्ति अर्थात् बिद्‌माता, है जिसके हाथों में तीनों के भाग्य की डोरें हैं।

'दानी शङ्कार' में साधु और नारद अलभ्य मोती की तलाश में जिस क्रम में ब्रह्मा, विष्णु और बिद्माता के पास पहुंचते हैं उससे बिद्माता का महत्व स्वयं सिद्ध है। ये यात्रा मानो दरबान, दीवान, मंत्री और राजा तक फरियाद की यात्रा है।

बिद्माता के कठोर अनुशासन को देखकर जन-मानस इसे दृढ़-प्रतिज्ञ देवी की संज्ञा देता है। 'नेकी दा फल म्हेशां मिट्ठा' कथा में पण्डित की भक्ति पर प्रसन्न होकर विष्णु भगवान उसे पुत्र का वरदान दे डालते हैं। फिर ध्यान आता है कि ये तो उनके बस से बाहिर की बात है। वे नारद सहित शिव के पास पहुँचते हैं। शिव भी बेबसी जाहिर कर देते हैं। तब चारों बिद्माता के दरबार में हाजिर होकर विष्णु भक्त पण्डित के लिये सिफारिश करते हैं। माता एकदम न कर देती है। आखिर नारद जी की बहुत खुशामद पर वह मान जाती है। परन्तु अनिच्छापूर्वक पुत्र देने के कारण वह सबको नचा डालती है। उसकी माया के कारण पण्डित के हाथ फल नहीं आते। आखिर बेचारा रक्त और गंदगी वाला फल उठा लेता है। माता उसे उसकी उम्र मांग लेने के लिये कहती है। और जब वह मांगने लगता है तो उसकी जिह्वा पर विराज जाती है। बेचारा कठिनाई से पुत्र की बारह बरस आयु ही मांग पाता है। (इतनी कंजूस और हठी देवी) अन्ततः बारह बरस बाद नदी में नहाते लड़के के प्राण हरने लगती है तो शिवजी उसका गला आन दबोचते हैं। इससे लड़के की मृत्यु की घड़ी टल जाती है और वह बच जाता है। परन्तु ऐसे बहुत कम प्रसंग हैं जिनमें वह अपने रचे विधान का पालन न कर पाई हो।

बिद्माता के भिन्न-भिन्न नाम-रूपों की विशेषता यह है कि वे स्वतंत्र व्यवहार करते हुए भी अन्ततः इसी में समा जाते हैं। कुछ कथाओं में 'भाग्य' मानवोचित व्यवहार करता है। भाग्य और लक्ष्मी का कई बार विवाद होता है कि दोनों में बड़ा कौन? इन प्रसंगों में लक्ष्मी सदैव हारती है। और भाग्य का बड़प्पन सिद्ध होता है। इसी तरह: १. 'तकदीर ते तजबीज' २. 'दिनें दा फेर' ३. 'भाग ते लछमी' ४. 'होनी ते करनी' इन चारों कथाओं का कथ्य एक है। थोड़ा-थोड़ा अंतर बयान करने के ढंग के कारण, और व्यक्तिशः प्रक्षिप्त अंशों के कारण चला आया है। बिद्माता—'तकदीर', 'सरस्वती', 'भाग्य' और 'होनी' के रूपों में इनमें विद्यमान है।

उसके द्वारा निर्धारित आयु को घटाना-बढ़ाना संभव नहीं। 'बिद्दमाता दे लेख' लोक-कथा में साहूकार का लड़का भूत के हाथों धर्मराज को संदेश भेजता है कि उसकी आयु में एक दिन घटा या बढ़ा दे। धर्मराज उत्तर भेजता है—"बिद्दमाता ने जो कुछ लिखा है वो उल्टे हाथों लिखा है और उसके लिखे में कोई भी घड़ी-पल घटा-बढ़ा नहीं सकता।"

कर्मवाद का परिप्रेक्ष्य और भाग्यवाद—परन्तु भारतीय अध्यात्म का कर्मवाद भाग्यवाद को बदलने में समर्थ है। लोक-कथाओं द्वारा भी इस बात की पुष्टि होती है कि पिछले जन्मों के कर्म ही भाग्य का निर्धारण करते हैं और यह कि वर्तमान कर्मों का फल भावी जन्मों पर पड़ता है। 'दो लुहाई' लोक-कथा में कुत्ते का अपनी मौत का बदला लेने के लिये कुटिल हलवाई के घर पुत्र रूप में जन्म लेना और फिर भरी जवानी में उसे पुत्र शोक से ग्रसित करके चले जाना—कर्मों के फल की प्रभुता पर बल देते हैं। लोक-कथाओं के दर्पण में भाग्य, जन्म से मृत्यु तक का वृत्तान्त एक निर्धारित कार्यक्रम के अनुरूप घटित होता है। कहीं-कहीं तो मृत्यु का इतना विकराल स्वरूप चित्रित है कि पलायनवादियों के वैराग्य की कुछ-कुछ समीचीनता समझ में आने लगती है। 'काल देवता' में मृत्यु का विकराल रूप सहृदय विकल न हो उठेगा। लगता है काल देखकर कौन बिना भेद-भाव या विवेक के जीव-संहार पर तुला बैठा है।

भाग्य सम्बन्धी कथाओं में बिद्दमाता अवांतर प्रसंगों में ही अवतरित हुई है। इन अवांतर प्रसंगों में कथा-रूढ़ियां बहुतायत में उपलब्ध होती हैं।

साधारण जन का व्यवहारवाद—कर्मवाद के ऊपर नियतिवाद की विजय भाग्यवाद की पूर्व-भूमिका है। व्यक्ति दुनिया में डर कर रहे। अपने से बड़ी एवं अज्ञात शक्तियों से खौफ खाए और कर्मवाद की महत्वाकांक्षा को प्राप्त न हो। घर-गृहस्थी में इस मध्यमार्गी रास्ते को अपनाकर लोक-मानस ने अनेक लोक-कथाओं में इस दर्शन का प्रतिपादन किया है। सुखी और सरल जीवन के प्रति आकर्षण और जोखिमों के प्रति विमोह को साधारण जन का व्यवहारवाद कहना चाहिये। समूह का अहंचेतन इसी में शरण ढूंढता है। यहां व्यवहारवाद के लिये शंका हो सकती है कि क्यों न इस निरापद सिद्धांत को पलायनवाद कहा जाए। इस शब्द के प्रयोग पर वर्तमान लेखक को भारी

आपत्ति है। कारण कि डोगरांचल की सांस्कृतिक परंपरा में इस शब्द के लिये कहीं जगह नहीं। यहां की कठिन कंडियों और पथरीली पहाड़ियों पर आदमी चैन की नींद सोने की फुर्सत नहीं ढूंढ सकता। हर कदम पर जोखिम और संघर्ष उसका रास्ता देखते हैं। आदमी जीने के लिये साधनों की तलाश सतत जारी रखता है। शायद इसीलिये यहां की लोक-कथाओं का 'पात्र' एक बार असफल होने पर हिम्मत नहीं हारता। उसे यह कहते नहीं सुना जाता कि 'किस्मत बुरी है तो काम करने का कुछ लाभ नहीं।' कर्म वे लगातार करते हैं—संघर्षों से गुज़रते हुए। पीछे जिन चार कथाओं का ज़िक्र आया है उनमें एक बार हाथ में आई किसी मूल्यवान वस्तु के खो जाने पर इनका केन्द्रीय पात्र 'गरीब बूढ़ा' दोबारा लकड़ियां बेचने या दूसरा काम करने निकल पड़ता है। पुनः असफल होने पर वह तीसरी बार, फिर चौथी बार यत्न करता है। इसे कौन पलायन कहेगा ? हां, महत्वाकांक्षा इनमें नदारद है। केवल दो वक्त की रोटी की समस्या प्रमुख है। इन कथाओं का ढांचा एक है। बिद्‌माता और लक्ष्मी की शर्त, किसी गरीब पर परख, गरीब को अंगूठी या लाल मिलना जो विधि के कारण मछली के पेट में चला जाता है। फिर नौ-लखा हार मिलना, इसका गिद्ध द्वारा झपटा जाना, फिर अशर्फियों की थैली मिलने पर चूल्हे के तल में दबाना और राख लेने आई पड़ोसिन का घर खाली देखकर इसे उखाड़ ले जाना। अन्त में दिनों का फिरना। एक-एक करके तमाम चीजों का वापिस मिल जाना ; बिद्‌माता की विजय और उसकी प्रभुसत्ता का भान। इस तरह दुःखद दिनों के बाद भले दिनों की आमद के आशावादी स्वर डोगरी लोक-कथाओं में सुनाई देते हैं।

•

बिद्‌माता सम्बन्धी लोक-कथाओं से निम्नलिखित बातें सार-रूप में स्पष्टतयः उभरती हैं :—

१. सबके ललाट पर भाग्य के अंकुर डालने वाली यही है। इसका विधान बदलना कठिन है।

२. हठी और कंजूस स्वभाव। परन्तु खुशामद पर वह मन की मुराद पूरी करती है। उसके होठों पर मुस्कान की रेखा कभी-कभार ही बनती है।

३. वह खुद ही प्राण डालती है और खुद ही निकाल लेती है। भाग्य के बीज भी उसी द्वारा रोपे जाते हैं।

इन तीन मुद्दों के दृष्टिगत ही कोई अनहोनी घटने पर साधारण जन ने अपने-आपको इस तरह समझाया है—

फिकर नि करना, बसोस नि करना 'मत्थै लिखी दी' सो होई।

इन शब्दों में अपनी अशक्तता की स्वीकृति के साथ ही साथ अन्योक्ति भाव से 'बिद्‌माता' की प्रचंड शक्ति की अभिशंसा भी उपलब्ध होती है। सही है जिस 'होनी' के पाश से रामचन्द्र जैसे समर्थ-शक्तिवान लोग नहीं बच सके उस अज्ञात रहस्यमयी के समक्ष साधारण-जनों की क्या बिसात—

होनी बरत गेई ऐ रामचन्दर, कां गेई सीता प्यारी ओ जोगी !

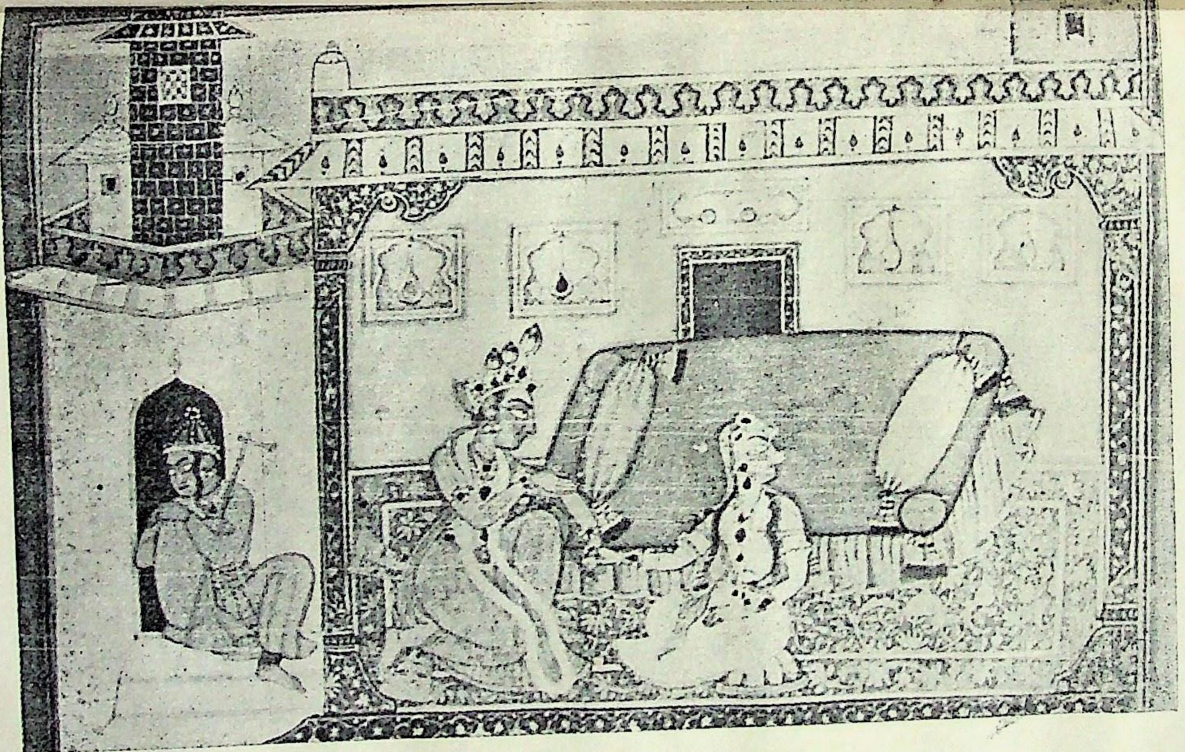
———

बसोहली चित्रकला में लोक परम्परा

—विद्यारत्न खजूरिया

पहाड़ी चित्रकला में बसोहली चित्रशैली सबसे पुरानी है। इसका आरम्भ १६२५ ई० के आस-पास माना जाता है। इस 'कलम' के सबसे पुराने उपलब्ध चित्र पर सन् १६९५ ई० की तिथि लिखित रूप में प्राप्त हुई है। यह चित्र **रसमञ्जरी** (भानुदत्त कृत) पर आधारित हैं और उन्हें बसोहली के चित्रकार देवीदास ने चित्रांकित कर वहां के राजा कृपाल पाल को भेंट किया था। इन चित्रों में रेखाओं और रंगों का अद्भुत एवं प्रभावशाली प्रयोग मिलता है। रेखाएं सरल और मोटी हैं, रंग साफ और गहरे। इनमें दूसरे रंगों के मिश्रण की प्रवृत्ति से बचाव की भावना स्पष्ट परिलक्षित होती है। इसी कारण प्रारम्भ में इन चित्रों को पहाड़ी लोक-शैली के अन्तर्गत रखते हुए अवहेलना की दृष्टि से देखा जाता था और अन्य पहाड़ी शैलियों यथा—कांगड़ा, गढ़वाल और जम्मू, की तुलना में इनकी बिक्री प्रायः नगण्य थी। इन चित्रों को अमृतसर एवं लाहौर के कला पारखी और व्यापारी 'तबती' कहकर पुकारते थे। इस अवहेलना का स्पष्ट कारण यही था कि इन चित्रों में न तो रेखाओं की बारीकी थी और न ही सूक्ष्मतम रंगों का प्रयोग इनमें उपलब्ध था। इसी कारण अन्य पहाड़ी शैलियों की तुलना में इनमें लोक-परम्परा का अंश अधिक दिखाई देता था। साफ शब्दों में कहें तो मुग़ल या कांगड़ा शैलियों जैसी 'नफास्त' इस शैली में नहीं थी। यह धारणा ठीक भी थी। बसोहली शैली में लोक-परम्परा का अंश प्रायः अधिक ही मिलता है। इस शैली की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि इस दिशा में विचार के लिए पर्याप्त सहायक प्रमाणित होगी अतः आगे हम उसी की चर्चा करेंगे।

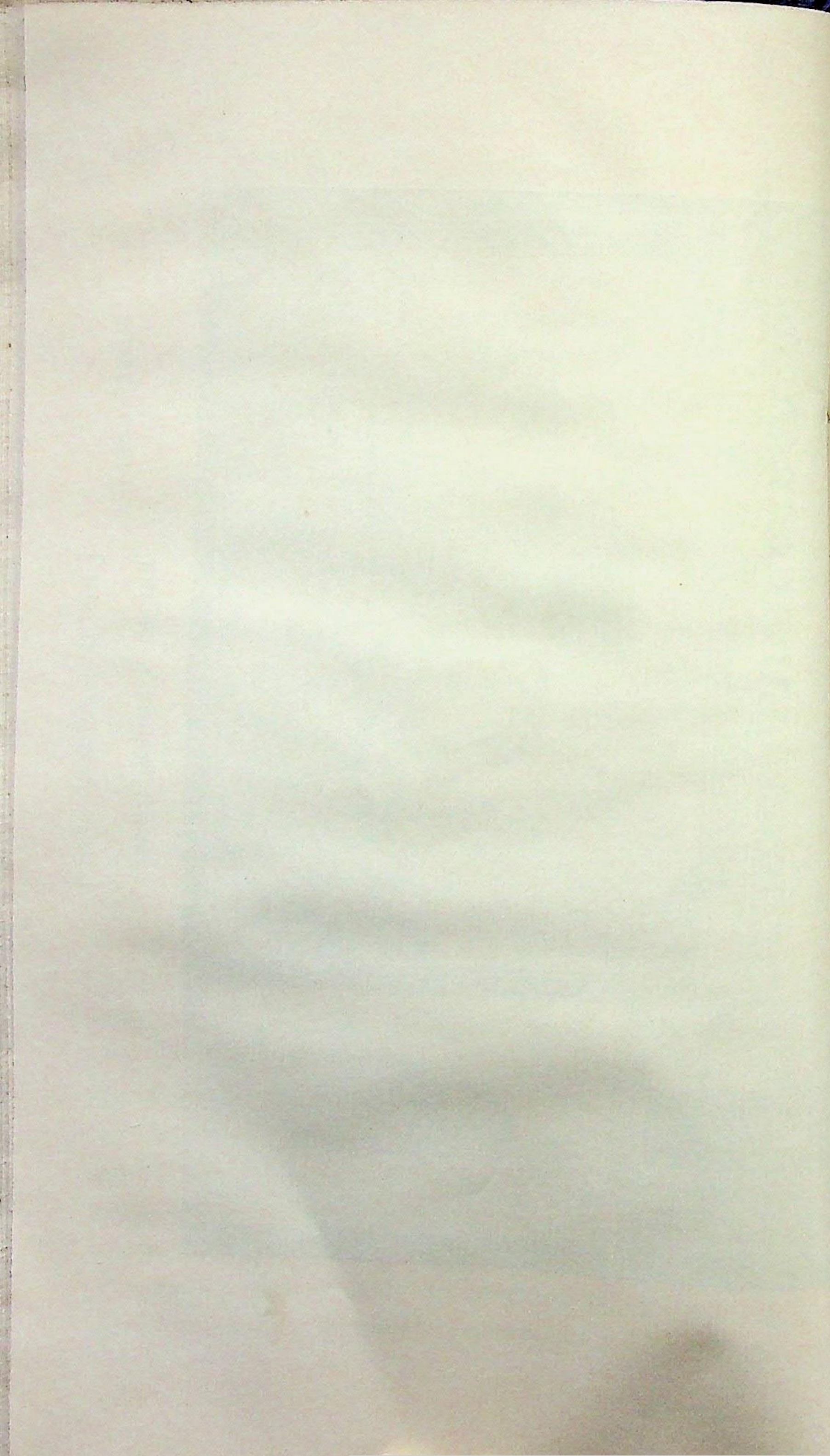
बसोहली, रावी नदी के किनारे बसा एक छोटा सा कस्बा है। कभी यह पाल वंश के राजाओं की राजधानी था। बसोहली कस्बे के नीचे, रावी नदी



रसमञ्जरी चित्रमाला से एक चित्र

—चित्रकार : देवीदास

[संग्रह : डोगरा आर्ट गैलरी, जम्मू]



के किनारे से कुछ दूरी पर एक पुरानी गुफा है जिसे, आज भी, विश्वेश्वर की गुफा कहा जाता है। इस गुफा की ऊंचाई आठ फुट तीन इंच है और इसमें राजा विश्वा की छः फुट, दो इंच ऊंची पाषान प्रतिमा स्थापित की गई है। किंवदन्ती है कि इसी राजा ने बसोहली—जिसका प्राचीन नाम विश्वलय भी कहा जाता है—का निर्माण किया। रावी नदी का पौराणिक नाम **विशाथली** था। इस कारण इस नाम की नदी के किनारे बसने वाले कस्बे को विशाथली कह कर पुकारा जाने लगा। इस स्थान का नाम कुछ भी रहा हो किन्तु इस बात में सन्देह नहीं कि इस छोटे से शासन की स्थापना पाल वंश के राजाओं ने ही की थी। पाल वंश के राजाओं की पुरानी राजधानी बिलावर थी—इसका संकेत भी इतिहास में मिलता है। बिलावर बसोहली से थोड़ी ही दूर पर स्थित उसी जैसा एक पहाड़ी कस्बा है। पाल वंश के राजाओं के महलों के अवशेष अब भी बिलावर में देखे जा सकते हैं। यह अवशेष हिन्दु और पठान शैलियों के मिश्रित आकारों को लिए हुए हैं। कस्बे के तीन ओर की गई किलाबन्दी इस तथ्य को संपुष्ट करती है। यहां का हरिहर मन्दिर नवीं-दसवीं शताब्दी का बना हुआ है। १९६० में मैंने कस्बे के उत्तरी भाग में स्थित इन पुराने महलों की कुछ दीवारों पर रंगों और रेखाओं के अंश शेष देखे थे। तनिक ध्यान से देखने पर यह लगता था कि इन दीवारों पर भी बसोहली शैली के ही चित्र बनाए गए होंगे। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बसोहली में राजधानी के स्थानान्तरण से पूर्व बिलावर में भी अवश्य ही चित्रकला की कोई लोक-शैली प्रचलित थी, जिसके द्वारा महलों एवं उस प्रकार के भवनों को सजाया जाता रहा होगा। **रसमञ्जरी** के चित्रों का समय यदि १६९५ ई० है तो बसोहली नगर का निर्माण अवश्य ही सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ होगा। अतः यह मानने में कोई झिझक नहीं होनी चाहिए कि सोलहवीं शती में बिलावर में इस शैली की परम्परा रही होगी। उपयुक्त कागज़ हस्तगत न होने के कारण उस समय भित्ति चित्रों की परम्परा अधिक फली फूली—इस तथ्य को झुठलाया नहीं जा सकता। भित्ति-चित्र शैली में कलम की बारीकी का आ पाना प्रायः असम्भव है। सम्भवतः यही कारण है कि बसोहली-शैली में प्रारम्भ में रेखाएं अधिक बारीक और प्रभावपूर्ण नहीं हैं। रंग अधिक गहरे हैं। उनमें सफेद अथवा अन्य हल्के रंगों का मिश्रण नहीं किया गया है और साधारण समतल रंगों को वरीयता दी गई है। यह तथ्य इस बात की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं कि

बसोहली-शैली का आरम्भ यहां की लोक-शैली से ही हुआ होगा। यह सारी विशेषताएं अब भी किसी लोक-चित्र-शैली में देखी जा सकती हैं। कांगड़ा और जम्मू शैलियों में इन बातों का प्रमाण नहीं मिलता और न ही किसी अन्य लोक-शैली से इसका सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। वे तो मुग़ल शैली का ही दूसरा रूप हैं। किन्तु पहाड़ी रस्मो-रिवाज और प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण स्वभावतः ही इन चित्रों का मुगल-शैली से अलगाव रेखांकित कर देता है। यहीं यह भी मानना होगा कि बसोहली शैली प्रारम्भ से ही लोक-कला के अंशों को अपने में समोए हुए; अपने को सजाती संवारती चली गई है।

बिलावर और बसोहली के पुराने राजमहलों में अंकित भित्ति-चित्र तो नष्ट हो चुके हैं किन्तु उस लोक-शैली का अंश देवीदास की **रसमञ्जरी** में अभी तक शेष है। इन चित्रों में चित्रपट के विभाजन की विधि उस शैली की ओर संकेत करती है, जिसमें आकाश का आकार अति लघु, भवनों तथा अटारियों का निर्माण एकांगी और वन अथवा वाटिकाओं को चित्र के ऊपरी भाग में बनाया गया है। यह प्रवृत्ति भित्ति-चित्र शैली में आम देखी जा सकती है। अत्यधिक मीनाकारी और अधिक तेज़ रंगों का प्रयोग लोक-कला की ही देन है। लोक-कला अधिकांशतः दीवारों अथवा धरती पर ही आंकी जाती है जिसमें चित्रपट की लम्बाई-चौड़ाई को लेकर बन्धनमुक्त हुआ जा सकता है। अतः इसी शैली को जब कागज़ पर उतारा जाता है तो कुछ परिवर्तनों का हो जाना स्वाभाविक ही है। ऐसे ही परिवर्तनों को **रसमञ्जरी** के चित्रों में महसूस किया जा सकता है। चित्रों में जानबूझ कर बारीक बेल-पत्तों का बनाना और भवनों के झरोखों को घेरने वाली रेखाओं का लापरवाही से किया गया प्रयोग लोक-शैली का विशेष गुण है। पहाड़ी चित्रकला में चित्र को कागज़ पर उकेरने की एक खास विधि है जिसे बसोहली की **रसमञ्जरी** और **गीतगोविन्द** चित्रमालाओं में प्रयुक्त नहीं किया गया है। पहले किसी आकार में रंग भर कर उसे सूक्ष्म ढंग से बनाया जाता था। ऐसी प्रथा का बसोहली के इन चित्रों में अभाव है। इसका मुख्य कारण यही हो सकता है कि कला की स्थानीय लोक-शैली ही बसोहली-कला का आधार थी। जैसे दीवारों पर सादा चित्रकारी में रंगों का प्रयोग साधारण ढंग से किया जाता था उसी प्रकार कागज़ पर भी रंग और रेखा का प्रयोग किया गया। किन्तु अट्ठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में दूसरे पहाड़ी चित्रकला के केन्द्रों से सम्बन्ध

स्थापित हो जाने के कारण यह प्रभाव जाता रहा और कागज़ को विधिवत तैयार कर आधुनिक ढंग से आंका जाने लगा। चित्रों में रिक्त स्थान—जहां पर कोई आकृति न हो—को बिलकुल सादा लाल, पीले अथवा सफेद रंग से भर देना एक ऐसी बात है जिसका अभ्यास के अनुसार भित्ति चित्र-शैली से सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। इसके अतिरिक्त मनुष्याकृतियों में आंख की बनावट सदा ही सामने से दिखाई देने वाली है किन्तु मुख इस प्रकार चित्रित किए गए हैं जैसे एक ओर से देखे गए हों। यहां यह बात दृष्टव्य है कि यदि आंख सामने से देखकर बनाई जाये तो आंख की पुतली का काला बिन्दु एक ओर को झुका हुआ होना चाहिए किन्तु इन चित्रों में इस ऑब्ज़र्वेशन का अभाव है। अतः इन चित्रों में साधारण सी आंख बना कर काला बिन्दु उसके मध्य में अवस्थित कर दिया गया है। इस काल की भित्ति-चित्र-शैली में निर्मित चित्रों के पर्यवेक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है और लोक-शैली में निर्मित होने वाले चित्रों में यह बात खासतौर से महसूस की जा सकती है।

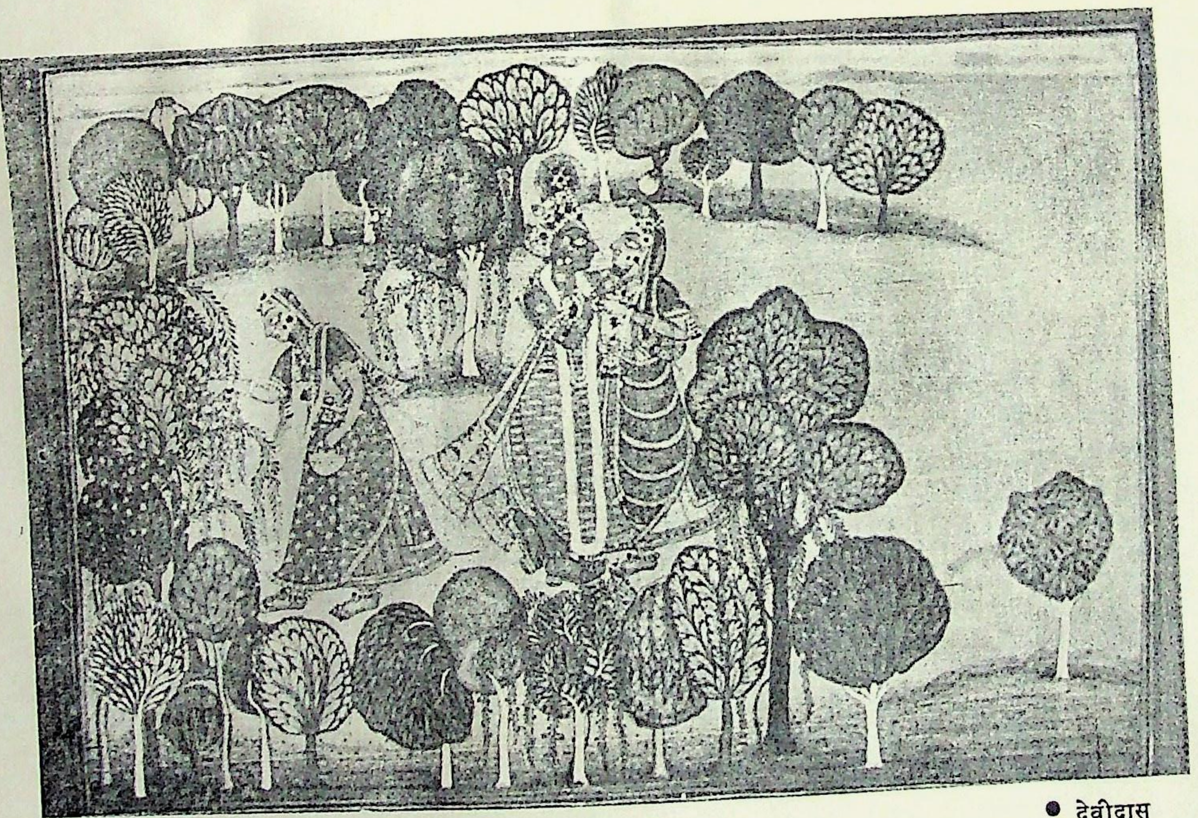
इस शैली के चित्रों का सबसे बड़ा संग्रह **डोगरा आर्ट गैलरी**, जम्मू में देखने को मिलता है। **रसमञ्जरी** चित्रमाला में दो प्रकार के चित्र देखने में आते हैं—(एक) वह चित्र जिनमें राधा और कृष्ण को नायिका एवं नायक के रूप में दर्शाया गया है और (दो) वह चित्र जिनमें शिव और पार्वती को इस रूप में आंका गया है। लोक परम्परा में आम आदमी को चित्रों में स्थान न देकर देवी-देवताओं को नायक और नायिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह एक विचारणीय बात है। पहाड़ी मूर्ति कला—जो हमें पत्थर और लकड़ी में मिलती है—इस तथ्य की ओर इंगित करती है कि देवी-देवताओं के अतिरिक्त इस कला में भी किसी अन्य को स्थान नहीं दिया गया है। इसकी एक खास परम्परा रही है। आदि काल से ही देवी-देवता और प्रकृति पहाड़ी लोगों की आस्थाओं और विश्वासों के प्रतीक रहे हैं। यही कारण है कि चित्रकारों ने आम आदमी को अपने चित्रों में स्थान न देकर देवी-देवताओं को अपने अनुभवों एवं भावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। पहाड़ी लोक-गीतों में भी प्रायः मन की व्यथा को देवी-देवताओं की आड़ लेकर व्यक्त किया गया है। लोक-कथाओं में भी इसके उदाहरण मिलते हैं। यही नहीं, विवाह एवं प्रसन्नता के अन्य अवसरों पर कुलवधुओं द्वारा चित्रित भित्ति-चित्रों में प्रायः राम एवं सीता अथवा कृष्ण एवं राधा को पति-पत्नी रूप में अंकित किया गया देखा जा सकता है। यह परम्परा बसोहली-चित्रों में भी

विद्यमान है। इन चित्रों में नायक एवं नायिका के रूप में कृष्ण एवं राधा को आम सांसारिकों के समान व्यवहार करते हुए दिखाया गया है।

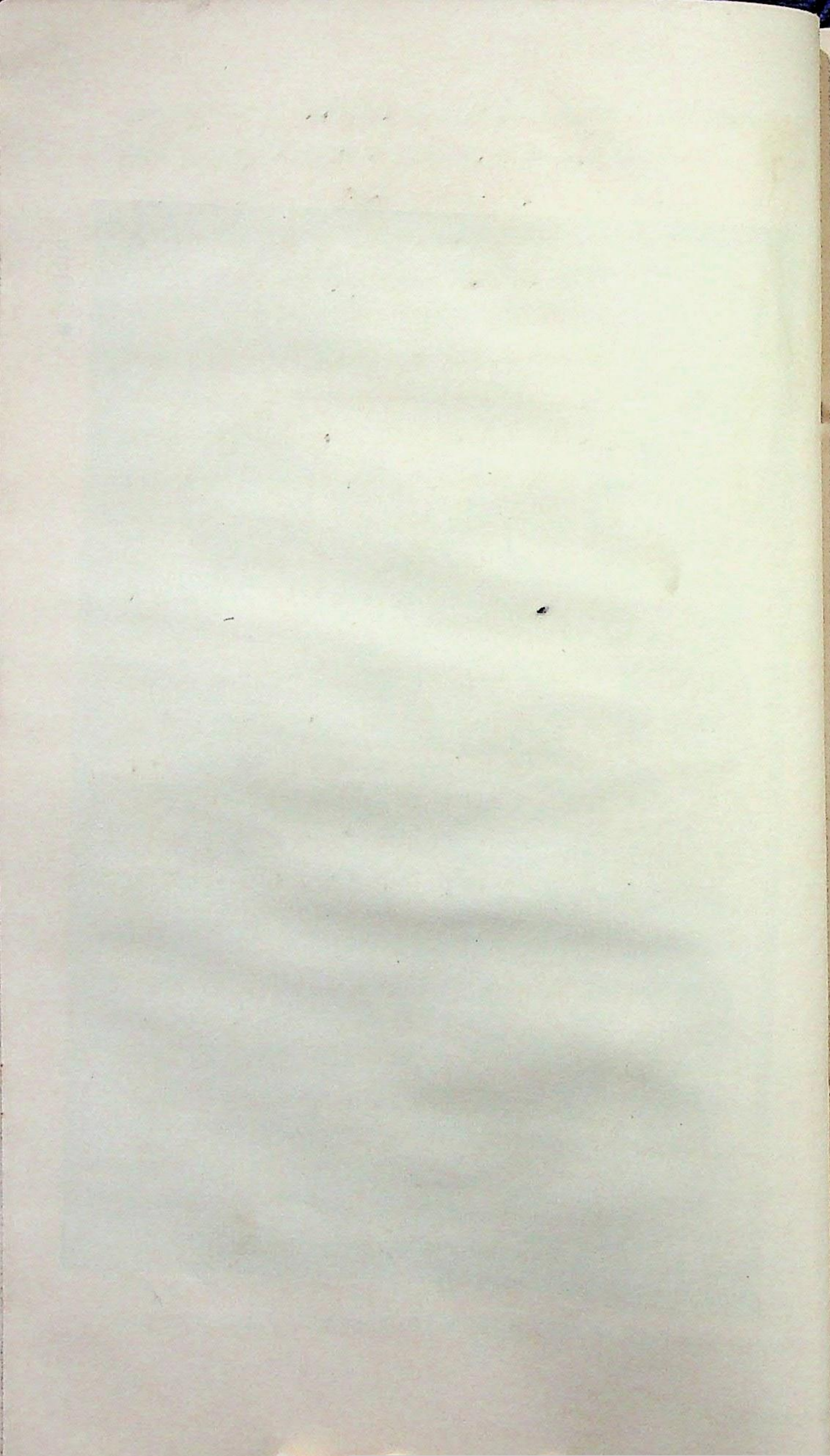
हर चित्रित वस्तु में सजावट लाना या डिज़ायन बनाना लोक-कला परम्परा का एक खास गुण है। यह प्रवृत्ति किसी जानवर अथवा पक्षी की आकृति बनाते समय और भी बलवती हो उठती है। वृक्षों के आकार की रेखा खींच कर उसमें पत्तों का रेखाओं द्वारा निर्माण भी आम बात है और लोक परम्परा के यह सारे गुण बसोहली चित्रों में मिलते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि कांगड़ा एवं मुग़ल शैली के प्रभावाधीन आने से पूर्व बसोहली चित्रशैली में लोक परम्परा का अंश अपनी सम्पूर्ण तीव्रता के साथ वर्तमान था।

बसोहली की इन दो चित्रमालाओं पर सर्वाधिक प्रभाव रंगमंच-कला का रहा है। ऐसा जान पड़ता है कि इस अंचल में रंगमंच की परम्परा काफी पुरानी है। रंग-मंच पर होने वाली क्रिया-प्रतिक्रिया से यह चितेरे अवश्य प्रभावित रहे होंगे, तभी तो इनकी कृतियों में इसका आभास मिलता है। राधा को कृष्ण अथवा अपनी सहेलियों के साथ किसी भवन अथवा वाटिका में चित्रित करते हुए स्थिति को प्रायः नाटकीय बनाकर प्रस्तुत किया गया है। इससे प्रभावित होकर चित्र-दर्शक अपने को राधा-कृष्ण से सम्बन्धित किसी नाटक का दर्शक समझने लगता है। लोक-नाट्य या रंगमंच परम्परा का यह प्रभाव बसोहली-चित्रों को कला की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण एवं उच्चकोटि का बना देता है। इस प्रवृत्ति को आधुनिक कला में भी अत्यधिक मूल्यवान समझा जाता है।

कांगड़ा अथवा जम्मू शैली में प्रकृति-चित्रण में बहते हुए नदी-नालों, झीलों तथा पहाड़ों का आम चित्रण इस तथ्य की पुष्टि करता है कि चित्रकार प्राकृतिक दृश्यों और बदलते मौसमों से अधिक प्रभावित था। इसके विपरीत बसोहली कलम का चित्रकार अपने चित्रों में इन उपादानों का कहीं भी प्रयोग नहीं करता है। प्रकृति उसे वैसी नहीं दिखाई देती जैसी कि वह है और न ही उसने 'जैसी है' की स्थिति को उजागर करने का कोई प्रयत्न किया है। अतः प्रकृति-चित्रण करते समय वह अपनी कल्पना से काम लेता हुआ ऐसे आकार ढूंढता है जिनमें रंगों की उपमायुक्त भाषा का प्रयोग करके मन की



• देवीदास



और मौसम की स्थिति को व्यक्त किया जा सके। जिन लिखित श्लोकों पर बसोहली-चित्रकार के चित्र आधारित हैं उनकी परिकल्पना ही उसके चित्रों का सूक्ष्म अंग है। उसके द्वारा चित्रित भवनों में अधिक से अधिक सजावट इस बात की ओर स्पष्ट संकेत करती है कि वह चित्रों में सजावट की ओर विशेष ध्यान देता था जो कि लोक-कला की पहली मांग है।

रसमञ्जरी और **गीत-गोविन्द** चित्रमालाओं के बाद के चित्र दूसरी पहाड़ी या मुगल शैलियों से प्रभावित जान पड़ते हैं; इसी कारण इनमें लोक परम्परा का अंश कम होता चला गया है। इसी काल की चम्बा तथा जसरोटा शैलियां बसोहली ही की उपशैलियों के रूप में उभरीं परन्तु कालान्तर में उनमें भी लोक परम्परा का अंश कम होता चला गया और दरबारी साज-सज्जा प्रमुख स्थान ग्रहण करने लगी। यही नहीं उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक आते-आते बसोहली शैली का अंश भी उनमें से जाता रहा और वह दूसरी पहाड़ी शैलियों से मिल गई जिन पर मुगल कला के रंग, रेखा और दरबारी वातावरण का अत्यधिक प्रभाव था। बसोहली शैली में भी उन्नीसवीं शताब्दी के चित्रों में इस प्रकार का परिवर्तन अधिक आया और बसोहली शैली भी लोक परम्परा के अति सजावट वाले प्रभावों से मुक्त होती चली गई। अब न तो इस शैली में वह सजावट रही और न वह सादगी। अमृत पाल के समय में और उसके बाद यह शैली पतन के गर्त में गिरती चली गई। फलस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही इस शैली के चित्रों में अपना विशिष्ट रूप-रंग समाप्त हो चला था।

जिस युग की हम बात कर रहे हैं, उस युग में डोगरा पहाड़ी प्रदेश छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित था तथा बसोहली की कुछ उप-शैलियों के केन्द्र भी थे जैसे चम्बा, मानकोट (रामकोट), जसरोटा, भड्डू और भद्रवाह में तो पाल वंश के ही लोग राज कर रहे थे। प्रारम्भ में तो यह उपकेन्द्र अपने में लोक परम्परा को संजोए रहे किन्तु बाद में यह भी बाहरी प्रभावों से आक्रान्त हुए और समय के साथ अपना अस्तित्व खो बैठे।

बसोहली शैली में परम्परा से चली आने वाली लोक-कला का प्रभाव तो स्पष्ट है ही, इसके अतिरिक्त ऐसे विषय भी इन चित्रों का आधार बने हैं जिन्हें लोक परम्परा से अलगाया नहीं जा सकता यथा मल्लयुद्ध और नटों की

कलाबाज़ियां। इन परम्पराओं से आम लोग मन-बहलाव का सामान जुटाते थे। इन्हें चित्रों में खुलकर स्थान दिया गया है। इन चित्रों में स्त्री-पुरुषों का 'हार-सिंगार' भी परम्परागत प्रभावों को लिए हुए दृष्टिगोचर होता है। दरबारी चमक-दमक के बीच भी राजाओं और राजकुमारों को परम्परागत पहाड़ी वेश-भूषा में चित्रित किया गया है और यथाशक्ति बाहरी प्रभावों से बचा गया है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि बसोहली कलम अपने में अधिक से अधिक परम्परा को समोए रही है।

———

कश्मीरी लोक-साहित्य में बहू-बेटी

—डॉ० प्राणनाथ तृच्छल

कश्मीरी लोक-साहित्य में लोकोक्तियों से लेकर लोकगीतों तक नारी की विभिन्न अवस्थाओं का—क्या बेटी क्या बहू, क्या सास-ननद तथा क्या पत्नी-भाभी, सबका—प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में वर्णन हुआ है। बचपन की आंख-मिचौनी से लेकर वैधव्य तक उसकी सभी दशाओं की अभिव्यक्ति हुई है। बचपन से उसका ध्येय तथा गन्तव्य ससुराल है। बचपन की क्रीड़ा से ही वह ससुरालोन्मुख होती है। मां की गोदी से उतर कर जब वह खेलने लगती है तो समवयस्क बालिकाओं के साथ मिलकर दो-दो की टोलियों में नृत्य करती हुई गाती है[1]—

हिक्टाह्‌-मिकटाह्‌ बाय्‌ अनिनम्‌ डून्य्‌ काह्‌

... ...

ख्यम क्याह चम क्याह्‌, हशि हेह्‌रस्‌ दिम क्याह्‌।

[मेरे भाई ने मेरे लिए ग्यारह अखरोट लाये, मैं क्या खाऊं-पियूं; सास-ससुर को क्या दूं।]

---

१. सात-आठ साल से लेकर दस-ग्यारह साल तक की लड़कियां जोड़ियों में यह नृत्य इस प्रकार करती हैं—दाहिने हाथ को बायीं बांह के ऊपर से दायीं दिशा में रखकर और बायें हाथ को दाहिनी बांह के नीचे से बायीं दिशा में रखकर, इसी स्थिति में सामने खड़ी दूसरी लड़की के हाथ पकड़ कर, शरीर को पीछे की ओर झुका कर पैरों के साथ पैर मिलाकर उसी स्थान पर घूमती हैं।

इसी प्रकार बालिकाएं एक-दूसरे का हाथ पकड़ कर गोलाकार चक्कर बनाती हैं और आगे-पीछे हिलते हुए गाती हैं—

बिल् बिच्‌रो माज् हा म्वयी पाद्‌शाह् साब्‌निस् प्रगंस् प्यठ्
च्‌वथी रंग च्‌रिये दामान् दरिये

... ...

बातान् बातान् वाचस् मोकदम् साबुन्
मोकदम् साबन् बोननम् माल्य्-माजि लस्
माल्य्-माजि दोपनम् बानुकुठ् खस्

—ए बुलबुल तेरी मां का देहान्त बादशाह के पलंग पर हुआ ; ए रंगीली चिड़िया उठ··· ··पहुंचते-पहुंचते मैं मखदूम साहिब के यहां पहुँची, उसने मुझे आशीर्वाद दिया कि जियो, अपने मां-बाप के हेतु ; माता-पिता ने मुझे आशीर्वाद दिया कि अधिकारिणी बनो भाण्डागार की·········। इस प्रकार की अन्योक्ति में भी बालिका गृह-स्वामिनी बनने की आकांक्षा रखती है ; और ये 'सपने सुहाने' बचपन से ही बुनने आरंभ होते हैं। प्रायः वयःसन्धि को प्राप्त होते ही दूल्हे की खोज आरंभ होती है और इसी अवस्था तक विवाह भी हो जाता है।

कितनी ही शुभ कामनाएं सुरक्षित हों और कितने ही आशीश वचन संयोजित हों लड़की के लिए, परन्तु 'लड़की है बोझ' ही—**कूर गयि फख्।** लड़की का जन्म किसी माता-पिता के लिए हर्ष का विषय नहीं, क्योंकि—**कोरि दब् गव् तोरि दब्** 'लड़की की (उसके कारण लगी हुई) चोट (बढ़ई के द्वारा लकड़ी काटने की तीखी धार वाली) हथौड़ी की चोट (के समान) है। लड़की का विवाह भी हो जाता है, वह गृह-स्वामिनी भी बनती है, फिर भी उसकी कोई वस्तु ग्राह्य नहीं ; उसके यहां खाना-पीना भी वर्जित है—**कोरि हुन्द् बत गव् दोरि हुन्द् गुस्** 'लड़की का (उसके घर का) भात गली का मल है'। लड़की चिन्ता का विषय है, उसके बढ़ने को लोक-चक्षु सतत निहारते हैं, लोक की दृष्टि में वह अतिशीघ्र वय प्राप्त करती है—**कूर् बड्‌नस् त च्‌र् पपनस् छु न कैंह् ति लगान्** 'लड़की के बढ़ने में और खोबानी के पकने में देर नहीं लगती'। वय-प्राप्ति पर, यदि उसके मां-बाप अमीर हैं तो और यदि गरीब हैं तो भी उनके लिए वह कष्टदायक ही है, क्योंकि—**कूर् छ आसनस् चीर नावान् त न आसनस् मन्दछावान्** 'लड़की, सम्पन्न हैं तो, चिरवाती है और निर्धन हैं तो लज्जित करवाती है'।

ऐसी सामाजिक अवहेलना के बावजूद मां का हृदय पुत्री के प्रत्येक कष्ट से, चाहे वह काल्पनिक ही क्यों न हो, विह्वल रहता है। लड़की को विदा करते समय उसकी विह्वलता की अभिव्यक्ति बड़ी मार्मिक है—

सोन्दुक् तय् कुंजु कर् माजि हवालय्
नेर् कूर्य् वारिव्यन् हवालय्।
वुन्युस्ताम आस्हम् हेरि ब्वन् राछी
माजिहंजि टाछी गर गछ़्खय्।
... ...
डोलि चानी कुब छिय् शेरान्
माजि छय् वालिज् डुब फेरान्॥

'अपनी चाबियां तथा सन्दूक मां के हवाले करके, जा बेटी, तू ससुराल वालों के हवाले है। आज तक तो मेरे घर की ऊपर से नीचे तक रखवाली करती थीं, ए मां की लाडली क्या तू घर जाएगी ?... .. तेरी डोली के कलश संवारे जा रहे हैं और तेरी मां का हृदय डूब रहा है।' घर जाने पर भी मां बेटी के लिए कितनी व्याकुल रहती है—**कूरी दिच़्मख् गारी गामन् तार्य् खंजि लोसय् कंजि चापान्** 'बेटी, मैंने तुमको ब्याहा अपरिचितों के ग्राम में, वहां तुम्हारे गंडस्थल थक गये सिंघाड़ों के छिलके चबाते-चबाते'। परन्तु पिता जब पुत्री के विवाह संस्कार से निवृत्त होता है तो वह चैन की सांस लेता है, लोकोक्ति लाक्षणिक हो गयी है ; जब भी कोई विश्रान्त बैठता है, कहा जाता है 'जैसे तू बेटी के विवाह-संस्कार से निवृत्त हो गया है' —**जन छय् कूर् हर्शाव्मुच़्।**

मां की लाडली ससुराल की वहु बनती है। परन्तु उस 'न्वश' बहू के साथ कैसा व्यवहार होना चाहिए, यह पूर्व निश्चित है। इसके लिए आतंक के सामान विधाता ने पहले ही निर्मित किये हैं—हश् 'सास' और जाम 'ननद'।

वरहजि म्वंडरे पर नय आसी,
न्वशि नय आसी हश तय जाम।
म्वकुदमस पतु नय पवकुदम आसी,
गामस तुलिहे शामस ताम॥

'टेढ़े लकड़ी के गठ्ठे को यदि भारी हथौड़ा न होता ; बहू को यदि सास-ननद न होतीं ; मुखिया के पीछे कारिन्दे न होते तो सायंकाल तक गांव को उजाड़

कर रख देते। सास-ननद बहू के मैके से अनेक वस्तुओं की अपेक्षा रखती हैं और उन वस्तुओं के न आने पर व्यंग्य-बाण मारती रहती हैं—

नोशी लजोय 'मालिनि-मालिनि मालिन्य चान्य हय डीठय।
ग्रद लजोय ग्रथि-ग्रथि बस्तय फटिथ बीठ्य।

'ऐ बहू तू मैके-मैके की रट लगाती रही लेकिन वे तो हम ने देखे ; फिर तू कहती रही कि आटा-चावल आयेगा, परन्तु वे वहीं रह गये जब उनकी खाल फट गयी।'

अड़ोस-पड़ोस वाले भी बहू के प्रति कटु होते हैं— **न्वश लथि न हार त स्वर प्यठ मार्यतोस होंड** 'बहू तो कौड़ी की नहीं पर उसके पैरों पर बलि दीजिए भेड़ की !' यदि महीने भर के बाद भी मैके से वह लौटे अड़ोस-पड़ोस को यह भी सह्य नहीं—**न्वश ग्रायि रेत्य जन ग्रास येत्य** 'बहू महीने के बाद आई, जैसे कि यहीं थी'। उनकी छिद्रान्वेषी नज़रों से बहू बच नहीं सकती। यदि वह ससुराल वालों के अनुरूप कार्य करे तो फिर कह उठते हैं—**मत्यव ग्रनेयि न्वश स्वति द्रायि मचुय** 'पगलों ने बहू लाई वह भी पगली ही निकली'।

एक असभ्य बहू तो पहले दिन से ही मुंह लगती है। संकेत से यदि सास या कोई और उससे आराम करने के लिये भी कहे तो वह लज्जा या मर्यादा का ध्यान रखे बिना उत्तर देती है—**व्वथ नोश कुठ खस ग्रायस क्याह करनि** 'ऐ बहू उठ, ऊपर कमरे में जा ; आई ही क्या करने।' परन्तु लज्जाशील बहू के लिए यह मन्त्र है—**कूरी वोनमय नोशी बोज, नोशी वोनमय कूरी बोज** 'बेटी तुमसे कहा, बहू तू सुन ले ; बहू कहा तो तुमसे, बेटी तू भी सुन ले।'

घर में बहू लाना प्रतिष्ठा का विषय है। एक-दूसरे की प्रतिष्ठा निहारी नहीं जाती। हर सम्भव तरीके से इसमें बाधा डाली जाती है, यह एक ध्येयहीन ध्येय रहता है—सब अपने-गैरों का। इस प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति है इस लोकोक्ति में— **तेलि तोश येलि न्वश गर वाती** 'जब बहू घर पहुंचेगी तब प्रसन्न होइए'।

लड़की कोई बिन बियाही नहीं रहती। घर तो उसको जाना है, वह उसकी मंज़िल है। वहां पर सास और ननद दोनों से पाला पड़ना है। 'ननद यदि गांव में भी हो वहीं से व्यंग्यात्मक उलाहने भेजेगी ही'—**जामय ग्रासि गाम तति प्यठ सोजि पाम।** इन सब बातों के साथ बहू को निपटना ही है। कालान्तर में वह ज़िद्दी और ढीठ भी बन जाती है। 'सास भी बड़ी है तो

बहू भी बड़ी है, पतीली जल गयी पर उतारेगा कौन (उसको चूल्हे से)'—
हश ति बड न्वश ति बड लेज दज तु वालि कुस । साथ-साथ रहते हुए सास की हर-एक चाल से वह परिचित हो जाती है। कभी सास बीमारी का बहाना करके कराहने भी लगे तो बहू कह उठती है—

हंग न त रंग न जंग जीछ हशये
दोद न त दग न कव यियम ओशये

'ऐ लम्बी-लम्बी टांगों वाली सास, न मैं (मुझे किसी) खुशी के अवसर पर और न किसी दिखावे के अवसर पर (कोई काम करने दिया) (अब) न (तुम्हें) कोई बीमारी (है) और न (कोई) पीड़ा (है) तो मुझे आंसू किस लिए आयें।'

लड़की से बहू तक का दुख-दर्द हब्बा खातून के प्रसिद्ध गीत में सिमट आया है। यद्यपि इस गीत की रचयिता ज्ञात है फिर भी इतने लम्बे समय तक लोक-वाणी के द्वारा ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक आने के कारण लोकगीत के अन्तर्गत इसकी गिनती होती है। इस गीत की लोक-प्रियता अक्षुण्ण रही है। इसकी कथा-व्यथा यों है—'मायके में दिन गुज़ारे नहीं जाते परन्तु मैं ससुराल में भी रहूँ तो कैसे; जब शादी पक्की करने के लिए मध्यस्थ आयेंगे, (शादी पक्की की जाएगी) वस्त्राभूषण बाज़ार से लाये जायेंगे। (मेरे बढ़ते हुए यौवन के कारण) सब छोटे पड़ जायेंगे। सास ने मुझसे कहा, ऐ बेचारी (मुंहजली) बहू, तूने मैके से लाया ही क्या? अब मेरी डोली (जिसमें मैं बहू बनके आयी थी और अब जो मेरी अर्थी बनी हुई है) को सवारी लगी, अब मुझे दूर मज़ार पर छोड़ दिया जायेगा (और कहा जायेगा) जा बेचारी, तुम्हारा वहीं निबटारा (अन्त) हो। मैं ससुराल में रहूँ तो कैसे'।

———

डोगरी लोक-गीतों में—टेक

—कु० अनिल गोयल

लोक-समूह द्वारा निर्मित लोक-गीत के समस्त स्वरूप पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि इन गीतों में सबसे प्रमुख बात जो हमारा ध्यान आकर्षित करती है वह 'टेक' होती है। शास्त्रीय संगीत की शब्दावली में 'टेक' स्थायी कही जा सकती है। 'टेक' गीत के आवश्यक रूप विस्तार के उपरान्त दुहरायी जाती है। मूलतः एक गीत का मूल रूपविधान उतना ही होता है जितना एक टेक से उसकी दुहरावट के बीच में प्रस्तुत होता है।

गीत के रूप-विधान में 'टेक' और 'तोड़' क्रमशः आदि तथा अन्त में प्रयुक्त होते हैं। गीत का मूल रूप-विधान अथवा रूप-विस्तार स्वर संभरण और स्वरालंबरण से युक्त होता हुआ जब पुनः एक सामान्य आरम्भिक स्वराधार अथवा 'लय' को प्राप्त करता है तो इस प्रयत्न को तोड़ कहते हैं। तोड़ पर पहुंचते ही गीत फिर आरम्भिक स्वराधार अथवा 'लय' को प्राप्त करता है।

भिन्न-भिन्न स्वर और तान में गाये जाने वाले संयोग-वियोग, ऋतु, पर्वों तथा मंगल-कार्यों के अवसर पर गाये जाने वाले गीतों को 'झंझोटियां' कहते हैं। 'झंझोटी' गीतों में मिलने वाली टेक के अनेक रूप हैं। कहीं तो यह टेक पहली पंक्ति से शुरू होकर, गीत के आवश्यक रूप-विस्तार उपरान्त अन्त तक स्थायी रूप से प्रयुक्त होती रहती है, कहीं बीच में शुरू होकर बीच में ही समाप्त हो जाती है और कहीं बीच में शुरू होकर अन्त तक चलती रहती है। पहली पंक्ति से शुरू होकर गीत के अन्त तक चलने वाली टेक का स्वरूप यूं प्रकट होता है—

"नामा कटाई करी घरैं आई जा……ओ॥

होरने सपाइयें दे चिट्टे-चिट्टे कपड़े,

तूं कजो कीता मैला भेस, ओ सपाइया।
नामा कटाई करी घरैं आई जा······ओ" ॥

दूसरे झंझोटी गीत में टेक गीत के बीच में शुरू होती है जिसका बीच में ही अन्त भी हो जाता है; परन्तु प्रभाव सारे गीत पर छाया रहता है—

"सन्दली दपट्टे गी ओं लान्नियां कनारी ओ।
तेरे बिना ढोली, प्यौके रोहन्नियां कोआरी ओ।

गोरे गोरे पैरें बिच बनदे न छल्ले,
धन साढ़ा जिगरा तुस नौकरी चल्ले।

गोरे गोरे पैरें बिच बनदे न तोड़े,
धन साढ़ा जिगरा तुस नौकरी टोरे।

गोरे गोरे पैरें बिच पेई गे छाले,
रोई रोई हुट्टी, मेरे सुनी लैयां आले।

दिक्खी जायां मेरे नक्का दी बो तीली,
रोई रोई हुट्टी, ओं होई गेई पीली।"

× . ×

"बड्डे बेल्लै उट्ठियै तलनियां सुच्चियां
जे तुस टुरी चलेओ लगदियां त्रुट्टियां
लग्गन नसीबें कन्ने सपाइया।

भैनू देआ भाइया, मेरेआ सपाइया,
जी ओ जान्नें मेरिये ॥"

उपरोक्त गीत में "भैनू देआ भाइया, मेरेआ सपाइया, जी ओ जान्नें मेरिऐ।" बीच में मिलने वाली टेक है जो गीत के अन्त तक चलती रहती है।

कुड्डु गीत में टेक की दुहरावट यूं परिलक्षित होती है—

"झक्का······मझक्का······झकालु
काली धारी ए दोहड़ु बोनु
झक्का······मझक्का······झकालु
गोदड़ा खाने री शादरा लागी,
गंढी नईं डब्बल टकालु
झक्का······मझक्का······झकालु।"

इस गीत में 'झक्का······मझक्का······झकालु' शब्द टेक के रूप में प्रयुक्त हुए हैं जिनकी दुहरावट का आभास हर दूसरी पंक्ति में हो जाता है जबकि

"काली धारी ए दोहड़ु बोनु" रूप को आवश्यक विस्तार देने के हेतु प्रयुक्त किया गया है।

'भाख' गीतों में टेक का प्रयोग कुड्ड गीतों से भिन्न होता है क्योंकि 'भाख' गीतों के गाये जाने का एक खास ढंग है। पहाड़ी संगीत में ही नहीं, समस्त भारतीय संगीत में भाखां गाने का अपना विशिष्ट ढंग है। गीतों में यद्यपि झंझोटी, भजन और भाख का मूल विषय एक ही हो पर गाने का ढंग अलग-अलग हो सकता है। लोक-गीतों में 'भाख' के तीन प्रकार मिलते हैं—लम्बी भाख, माध्यमिक भाख तथा छोटी भाख।

"सीना सोच-बचार करी के, इक बारी पलङ्ग पर आ जोगी।
मैं बन्दी सोह्णी आं गुलाम तेरी,
इक बारी गलें कन्नै ला जोगी॥
मैं प्यास-प्यास करलान्दी गै रेइयां, शर्बत-वसल दा घुट्ट पला जोगी।
इक पहर झगड़दे बीती गेआ,
हून पड़दे शरम दे हटा जोगी॥"

उदाहरणार्थ प्रस्तुत की गई इस लम्बी भाख में टेक का स्वरूप वहीं दृष्टिगत होता है जहां कि जोगी को विभिन्न हाव-भाव के लिए उत्तेजित किया गया है। इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण देखिए जहां नायक-नायिका न मिल पाने के कारण चिन्तित हैं—

"कुत्थुआं खानी कनक पुरानी,
कुत्थुआं दा भरना पानी,
जिन्दे कियां मिलना?
जम्मुआं दी खानी कनक पुरानी,
तविया दा भरना पानी,
जिन्दे कियां मिलना?"

अन्य लोक-गीतों की तुलना में हम देखते हैं कि अनेक 'भाख' गीत प्रश्नोत्तर रूप में गाये जाते हैं जिनमें लोकजीवन की ही समस्याओं को स्वरबद्ध किया गया है लेकिन इन गीतों में टेक का स्वरूप अपने में एक इकाई के रूप में विद्यमान रहता है चाहे उसका प्रयोग आदि एवं अन्त में हुआ हो। इस संदर्भ में छोटी भाख का उदाहरण अवलोकनीय है—

"ते चम्बे बो पाइया, मेरा लौंग उन्नी घड़ेया।
ते सच्च ओ आखें अड़िए,

पौनी छटिया दी मार—
कुन्नी तुकी सूट दित्ते ??
ते चम्बे भैन सोपहन, सूट उन्नी दित्ते।
ते भी सच्च आखें अड़िए,
पौनी छटिया दी मार ॥"

× × × ×

"जित्त घर आइयें मल्ले रानियें,
मेरी पहाड़ां वाली।
कुत्थें तेरे घर बाहर ??
दक्खना दा आइयें मल्ले रानियें,
मेरी पहाड़ां वाली।"

इन भाख गीतों में भी कुड्डु गीत की भांति कहीं-कहीं हर दूसरी पंक्ति में टेक का दुहराव प्रस्तुत हो ही जाता है जैसे—

"दीबा ते सीता सक्कियां भैनां हो।
दिल कुस सौगे लाना तेरे सोह ॥
सीता ते मोरे मने च धमूरी हो।
दिल कुसे सौगे लाना तेरे सोह ॥
बिक्खड़े न दरम्मनां दे फाट हो।
लिंजो लिढ़ी मत जान्दा तेरे सोह ॥"

इन लोकगीतों में भाख का एक अन्य रूप भी मिलता है जिसे 'तरोड़क' कहते हैं। 'तरोड़क' भाख को तोड़-तोड़ कर गाया जाता है परन्तु उनकी लय में गतिशीलता एवं निरन्तरता स्थायी रूप से कायम रहती है। ऐसी भाख के भावों में चुलबुलापन रहता है और बोलों में कुछ प्रखरता होती है। उदाहरणार्थ 'तरोड़क' उद्धरित है—

"ढोल सपाइया बे
मोड़ घरें जो घोड़ा
ढोल सपाइया बे
मेरा तरसै रंगला जोड़ा।"

× × ×

मिक्की ए निक्कियें छमकें मारदा
शावा बीबा मारदा

नई मारदा, सुधारदा,
शावा कप्फन मारदा
मिक्की दुद्ध दुन्द्धी गी मारदा
शावा बीबा मारदा
मिक्की अल्लिऐं छमकैं मारदा
शावा कप्फन मारदा।

उपरोक्त तरोड़क में "नई मारदा सुधारदा, शावा कप्फन मारदा"। ऐसी तरोड़क है जो उलाहने के रूप में पति के व्यवहार को चरितार्थ करती है।

भाख गीतों के अतिरिक्त संस्कार गीतों में भी 'टेक' स्थायी रूप से विद्यमान रहती है। इन संस्कार गीतों में 'बिहाइयां', 'घोड़ियां', सुहाग तथा 'बधावे' आदि प्रमुख हैं।

'बिहाइयां' पुत्र जन्म से पहले और बाद में गाये जाने वाले गीत हैं—

जी मैं उठनियां बडलै सबेरे,
जी मैं जन्नियां पन्तें दै बेढ़ै।
उठ तू पन्ता बो सुत्तेया,
पन्ता पत्तरी रक्खो घर मेरे
बाले नै जन्म लेया।',
जी मैं उठनियां बडलै सबेरे,
जी मैं जन्नियां नाइयें दै बेढ़ै।
उठ तू नाइया बो सुत्तेया,
नाइया कैहल रक्खो घर मेरै
बाले नै जन्म लेया।

उपरोक्त गीत को पढ़ने पर यूं प्रतीत होता है कि सारा गीत ही टेक रूप में गाया गया है परन्तु समीक्षात्मक दृष्टि से देखने पर स्पष्ट होता है "वाले नै जन्म लेया" पंक्ति ही टेक रूप में प्रमुख है। अन्य दोहरावट जो गीत में परिलक्षित होती है उसका कारण हमारे रीति-रिवाज हैं क्योंकि हमारे समाज में कुछ ऐसे काम हैं जो बालक के पैदा होने पर या अन्य संस्कारों को सम्पन्न करने के अवसर पर नाई, झीर तथा पण्डित लोग ही करते हैं। 'बिहाई' का एक अन्य उदाहरण देखिए जहां एक ही गीत में हमें टेक के दो रूप मिलते हैं—

"ए ल्हौरा दा कंघी मंगाई दे सै
तू नुआई दे सै
गोरी मंगदी ऐ।"

"मंगाई दिन्नां, नुआई दिन्नां,
तू उठ सिर गुन्दिये बौह
कैन्ता दिये लाडलिये ।।"

सभी सांस्कारिक गीतों में अन्य गीतों की अपेक्षा अधिक दोहरावट पाई जाती है। 'घोड़ी' का उदाहरण विवेचित है जिसकी हर दूसरी पंक्ति दोहरावट को लिए हुए है—

टिक्का जुद्या दा आआ,
लग्गी सानूं देर ।
तुस लायो मेरे बीरा,
लग्गी सानूं देर ।"

उपरोक्त गीत टीका लगने के अवसर पर गाया जाता है तो बुटना लगाने के अवसर पर गाये जाने वाला गीत यूं है—

मलेयो—दलेयो बुटना ए—
मेरे लाडले दा ब्याह
सदायो बावल ऐं···जी ।
मलेयो—दलेयो बुटना ए—
मेरे लाडले दा ब्याह,
सदायो ताया ऐं······जी ।"

गीत में गाये जाने वाली "मलेयो-दलेयो बुटना ए—" ही गीत की टेक है ।

'सुहाग' गीत कन्या के विवाह अवसर पर गाये जाने वाले गीत हैं जो करुणा का पुट लिए हुये हैं—

कचनार बैठी बीबी दातन करदी,
करदी ऐ बावल जी दियां मिनतां ।
बावल देस जायो, परदेस जायो,
हमरी जोड़ी दा बर ढूंडेयो ।
रात खेयो, उनकी जात पुच्छेयो,
दिन खेयो उनका गोतर पुच्छेयो ।
सुबह दे लगन जड़ाओ ।।"

उपरोक्त सुहाग में गाई गई प्रथम दो पंक्तियां ही गीत की टेक हैं जिनमें कन्या के भाव को व्यक्त किया गया है कि वह दातन करते-करते बाप से अपने वर की तलाश के लिए मिन्नत करती है और मिन्नत स्वरूप जो कुछ कहती है वह आगे की चार पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है ।

जन-जीवन के अनेक पहलुओं का चित्रण करने वाले डोगरी लोक-गायक ने भिन्न-भिन्न ऋतुओं को भी अपने काव्य का विषय बनाया है। इन गीतों में मुख्यता चार ऋतुओं का वर्णन मिलता है—ग्रीष्म शीत, बसन्त तथा बरसात ऋतु। इन गीतों में प्रयुक्त होने वाला संगीत इनकी प्रमुख विशेषता है। कला की दृष्टि से कुछ गीत अधूरे एवं अपरिपक्व माने जाते हैं जिसकी कमी इनका संगीत आत्मसात कर लेता है।

तुगी झोली-झोली रक्खां
ओ मेरेया हाड़ै देया पानियां।
तुगी खट्टी खट्टी रक्खां
ओ मेरेया हाड़ै देया पानियां।

कण्डी प्रदेश की नायिका आषाढ़ महीने के पानी को संभाल कर रखना चाहती है क्योंकि यहां ग्रीष्म ऋतु में पानी ही से जीवन की सार्थकता मानी जाती है। गर्मी को दूर करने के लिए नायिका पति द्वारा लगाये गये वटवृक्ष के नीचे बैठती है—

सोहे दिया धुप्पा छामां बैठी आं
तूं भुल्ल बड़ूटेया।
तुगी सज्जने स्हाड़ें लाया,
तूं भुल्ल बड़ूटेया।।

ग्रीष्म ऋतु के पश्चात् बरसात ऋतु आती है जबकि हर चीज पर हरियाली छा जाती है और सारा वातावरण झूम उठता है परन्तु वातावरण की हरियाली में विरहणी की व्यथा तीव्र हो जाती है—

बदलै दी घट काली वो,
बिच गगना दै।
सेइयां चलियां पानियैं वो,
बिच जमना दै।
कोयल बोलै अमृतवाणी वो,
बिच बागैं दै।
पढ़दे तोते रोन्दियां नारीं वो,
बिच महलें दै।

बरसात ऋतु के इस गीत में टेक का रूप स्थायी है परन्तु बोल बदल गये हैं जिसका मूल कारण है—संदर्भ का बदल जाना। टेक के समानान्तर बोल वाली टेक का रूप इस प्रकार है—

झिक्कियां-झिक्कियां झड़ियां लग्गियां,
कंत गेया परदेस हो।
मेरियां सिज्जी गेइयां मीण्ढियां,
म्हाड़े कन्तै दे सिज्जी गे केस हो॥

बरसात की व्यथा से आक्रान्त विरहणी शीत ऋतु में गा उठती है—

देह सीतै नै डग डग कम्बदी
ते मनै च पवै दे जाले,
तेरे सोह्
मनै च पवै दे जाले।
ओ लोभिया चम्बे देया॥

इन गीतों के अतिरिक्त साधारण गीतों में भी टेक का रूप मिलता है जो गीत में लय प्रस्तुत कर देता है—

मिट्टी ने रलेया।
ओ सुथरे ठोरदे डण्डे,
ते कलयुग मिट्टी ने रलेया।
पैरें हेट प्हाड़ दिए खड़े,
ते कलजुग मिट्टी नै रलेया।

इन गीतों में टेक साधारण रूप में ही प्रस्तुत नहीं होती वह किसी सांसारिक तथ्य की ओर भी इंगित कर देती है।

———

माङ्गलिक डोगरी लोकगीत—एक अध्ययन

—डॉ० चम्पा शर्मा

हिन्दु धर्मशास्त्रों ने जन्म से मृत्यु पर्यन्त सोलह संस्कारों से जीवन को संस्कृत करने का आदेश दिया है। ये संस्कार जन्म से मृत्यु तक के काल में विभाजित हैं। इनमें सबसे प्रमुख तीन हैं—जन्म, विवाह, मृत्यु। जीवन की ये तीन महान् घटनायें हैं, जिनके द्वारा साधारण क्रम का व्यतिक्रम प्रदर्शित होता है। इन तीन प्रधान संस्कारों से शेष तेरह भिन्न भूमि वाले होते हैं अतः इनके सम्पादन के समय गाए जाने वाले गीतों को संस्कार गीत या माङ्गलिक गीत कहा गया है। वैसे तो समूचे भारतीय समाज में उपरोक्त संस्कारों के प्रति अभी तक थोड़ी बहुत आस्था बनी रही है, पर विशेष करके पहाड़ी प्रान्त का समाज होने के कारण डुग्गर समाज में प्राचीन रीति-रिवाजों के प्रति श्रद्धा कुछ अधिक ही मिलती है।

प्रकाशित[1] तथा अप्रकाशित माङ्गलिक डोगरी लोकगीतों से प्रमाणित होता है कि हमारे हां भी संस्कार विशेष के सम्पादन पर स्त्रियां मिलकर माङ्गलिक गीत गाती हैं। कुछेक तो संस्कार ही ऐसे हैं जिनका सम्पादन कराने के लिए किसी पुरोहित को बुलवाकर मन्त्र आदि पढ़वाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रायः घर की बड़ी-बूढ़ी सधवा स्त्रियां ही मिलकर यह काम सम्पन्न करती हैं। यह लोकाधार पद्धति ही विशेषतः गीतों से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहती है।

न केवल डुग्गर में ही अपितु सभी भारतीय अथवा अभारतीय समाजों में जन्म तथा विवाह संस्कारों सम्बन्धी लोकगीत अधिक संख्या में प्राप्त होते हैं

---

१. जे० एण्ड के० कल्चरल अकादमी द्वारा प्रकाशित 'डोगरी लोकगीत' दस भागों में।

क्योंकि वे दोनों संस्कार आनन्द और हर्ष के अवसर हैं। मृत्यु पर भी गीतों[२] का अभाव नहीं है पर वे संख्या में कम हैं और महत्व में भी।

जन्म सम्बन्धी माङ्गलिक डोगरी लोकगीत

पुत्र जन्म से पूर्व[३] और बाद में गाए जाने वाले डोगरी लोकगीत 'बिहाइयां' कहलाते हैं। प्रथम गर्भधारण करने के आठवें माह की अष्टमी को 'ठुआं' अथवा 'रीतीं' नाम का संस्कार सम्पन्न किया जाता है। वधू को काष्ठ की ज़नाना कुर्सी (पीढ़ा) पर बैठा कर मायके से भेंट में आए हुए वस्त्र-आभूषण पहनाये जाते हैं, नापित स्त्री (नयाणी) उसका शृंगार करती है और उसकी गोदी में किसी का सुन्दर और स्वस्थ बालक बिठाया जाता है। स्त्रियां इस अवसर पर बिहाइयां गाती हैं जिनमें पत्नी अपने पति से अनुरोध करती है कि वह उसे शृंगार की बढ़िया वस्तुएं मंगवा दे। उत्तर में पति उसे ये सब मंगवा देने का वचन देता है।[४]

डुग्गर समाज में पुत्र का जन्म सुख तथा सौभाग्य का प्रतीक माना गया है। पुत्र का जन्म तथा इन्द्र की वर्षा नित्य नहीं हुआ करती—ऐसे उद्गार कई बिहाइयों में अभिव्यक्त हुए हैं[५]। एक ओर पुत्रहीना कोई नारी बड़ी विकल है। वह पति से अनुरोध करती है कि वह उसे बाजार से ही पुत्र

---

२. लुआनियां

३. रीतियां, रीतीं, अकवर, ठुआं

४. ए ल्हौरा दा कंघी मंगाई दे सै,
तूं नुआई दे सै,
गोरी मंगदी ऐ।

पति उत्तर देता है—

मंगाई दिन्नां, नुआई दिन्नां,
तूं उठ सिर गुन्दियै बौह्,
कैन्ता दिये लाडलिये।

५. पुत्तरां दे जम्मने राजा, नूंह्आं दे औने,
इन्द्र दी बरखा राजा, नित्त नि होनी।

खरीद कर ला दे। तिस पर उसका पति उसे समझाता-बुझाता है कि पुत्र बाज़ारों में नहीं बिकते[६]।

दूसरी ओर नववधु ने बालक जन्मा है। एक लोकगीत के अनुसार तत्काल बालक के ननिहाल तथा दादी के हां शुभ सूचना भेजी गई है। नानी तो मारे प्रसन्नता के फूली नहीं समा रही। वह बड़े चाव से बेटी के लिए मिष्टान्न (डोगरी सुण्ढ) बनाकर साथ में सदा फलते-फूलते रहने का आशीर्वाद भेज देती है।[७] सूचना मिलने पर सास भी उक्त मिष्टान्न लोकाचार को रखते हुए भेजती तो है पर इतनी कम मात्रा में जो प्रसूता के लिए भी पूरी न पड़े—ओस-पड़ोस में बांटने की तो बात ही एक ओर रही। सास के भेजे हुए आशीर्वाद में भी स्वार्थ है।[८] अतः इन 'बिहाइयों' के द्वारा डुग्गर समाज में चले आ रहे मां और सास के प्रेम में अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

इतना सब होते हुए भी दादी, बुआ और ताई का बालक जन्म पर जो आदर होता है वह नानी, मासी आदि का नहीं। प्रत्युत उनका उपहास द्योतित करने वाली 'बिहाइयां' अवश्य मिलती हैं।

डुग्गर समाज में कृष्ण का प्रभाव कितना अधिक है, इसका अनुमान पुत्रजन्म सम्बन्धी अनेक ऐसे लोकगीतों से लगाया जाता है जिनमें पुत्रजन्म को साक्षात् कृष्ण-जन्म बताया गया है।[९]

पुत्रजन्म की प्रसन्नता न केवल पारिवारिक सदस्यों में ही अपितु ओस-पड़ोस में भी बंट जाती है। चिरकाल से चला आता पारस्परिक मन-मुटाव

---

६. चल मेरे कैन्ता चलचै बजार, पुत्र ल्योचै बो बिकदे।
सुन मेरी नाजो तूं बड़ी ऐं गुआर, पुत्र बाजारें नईं बिकदे।

७. अम्बड़िया मिगी सुण्ढ भेजी, धीए बण्ड शरीकां खायां,
अम्बड़िया मिगी सीस दित्ती, धीए कौड़ी वेली साईं फलेयां।

८. ससरिया मिगी सुण्ढ भेजी, नूहएं रगड़ मत्थे पर लायां,
ससरिया मिगी सीस दित्ती, नूहएं बुढ-सुहागन होयां।

९. क) जाई आख्यो मेरे कैन्ता (पति) गी,
जम्मेया ऐ कृष्ण मुरार, बधाइयां तुसें गी।

ख) स्हाड़ै जम्मेया ई कृष्ण मुरार,
स्हाड़ै कम्म कौन करे।

और रूठापन दूर कर दिया जाता है।[10] खुशी-गमी में मिल-जुल कर रहने वाले डुग्गर समाज पर प्रकाश डालने वाले अनेक अन्य डोगरी माङ्गलिक गीत भी हमारे लोकसाहित्य में सुरक्षित हैं।

विवाह सम्बन्धी डोगरी माङ्गलिक लोकगीत

विवाह मानव-जीवन में हर्ष का सबसे महत्वपूर्ण अवसर माना जाता है। घर-परिवार के सभी व्यक्तियों की उल्लास व उत्साह भरी उमंगों का प्रकटीकरण स्त्रियों द्वारा गीतों के रूप में किया जाता है।

विवाह सम्बन्धी माङ्गलिक डोगरी लोकगीतों को मोटे रूप से दो भागों में बांटा जा सकता है—कन्यापक्ष से सम्बन्धित गीत 'सुहाग' कहलाते हैं और वर पक्ष से सम्बन्ध रखने वाले लोकगीतों की संज्ञा 'घोड़ियां' हैं। विवाह पर दोनों घरों में (वर तथा कन्या के) अनेक प्रकार की रीतियां तथा रस्में सम्पन्न की जाती हैं। इनमें से कुछ दोनों घरों में एक जैसे किये जाते हैं जैसे—**'गाना बांधना'** (डोगरी गण्ढियां) विशेष धार्मिक स्नान (डोगरी सान्द) के लिये मुंह अंधेरे पकवान पकाना, उबटन तेल लगाना, स्नान करवाना दोनों घरों में वर को 'तमोल' (भेंट विशेष देना) आदि। पर इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी रस्में डुग्गर समाज में प्रचलित हैं जो दोनों घरों में अलग-अलग ढंग से सम्पन्न की जाती हैं। इन सब रस्मों के सम्पादन के समय स्त्रियां अलग-अलग माङ्गलिक गीत गाती हैं। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

घोड़ियां—लड़के के विवाह पर गाए जाने वाले माङ्गलिक गीतों को डोगरी में 'घोड़ियां' कहा जाता है। लड़के के विवाह का आरम्भ 'टिक्का' नाम के संस्कार से होता है कन्या पक्ष वाले यथाशक्ति, आजकल यथा रीति, फल, मेवा, मिठाई, धन और अन्य द्रव्य लड़के के घर भेजते हैं। लड़की का भाई वहां जाकर अपने होने वाले बहनोई के माथे को कुंकुम तिलक से अलंकृत करता है। इस अवसर पर पण्डित-पुरोहित वैदिक मन्त्रों का उच्चारण करते हैं और स्त्रियां माङ्गलिक गीतों से अवसर की शोभा बढ़ाती हैं।[11]

---

१०. आण्ढ-गुआण्ढ रूठड़े, ओबी मनाई लैयो अज्ज,
कैन्ता मतवालेया, ओबी मनाई लैयो अज्ज।

११. टिक्का जुद्या दा आया, लग्गी सानूं देर,
तुस लायो मेरे बीरा, लग्गी सानूं देर।

तदनन्तर 'गण्ढियां' संस्कार से विवाह का आरम्भ होता है। गण्ढियां विवाह में किये जाने वाले यज्ञ-हवन सम्बन्धी सामग्री के पूजन की रस्म होती है।[12] विवाह के दिन 'वर पक्ष' वालों के तेल लगाना,[13] उबटन[14] मलना, स्नान[15] कराना (डोगरी सान्द), सेहरा[16] बांधना, तमोल[17] देना और घोड़ी[18] पर 'वर' को बैठाकर वधु के घर की ओर प्रस्थान करना प्रमुख संस्कार सम्पन्न किये जाते हैं।

विवाह करके वर जब वधु को अपने घर लाता है तो उस समय से सम्बन्धित माङ्गलिक गीतों का भी अपना ही महत्त्व है। इनमें हंसी-मज़ाक की फुलझड़ियां खिल उठती हैं। घर की दहलीज पर स्त्रियां वधु का स्वागत करती हैं और माङ्गलिक गीत गाती हैं।[19] श्वेतवर्णा लम्बी-ऊंची वधु को देखकर स्त्रियां गीतों द्वारा वधु की जननी को धन्य-धन्य बोल उठती हैं।[20] इस प्रकार 'वर' के घर का वातावरण विवाह के दिनों में इन माङ्गलिक गीतों (घोड़ियों) से हर्षमय बना रहता है।

---

१२. वीरा कुत्थै गुजारी सारी रात, छोड़ सुदागरियां,
भैने गेया हां हट्ट-बजार, गण्ढियां खरीदने गी।

१३. ठनक कटोरड़िये कुन्न पाया तेल?
ठनक कटोरड़िये माए पाया तेल।

१४. बुटना (उबटन) मलै तेरी भैन जिदे गूढ़ै नैन,
ते बुटना कौन मलै? हे·········बुटना??

१५. जे तूं बैठा सान्दी मराहजा, माए ते मंगल गान्दी मराह्‌जा।

१६. सेहरा बन्नेयां, पञ्ज लड़ियां, हीरे मोती ते लालें जड़ियां।
आं बो कुसै करमे वाली दा जाया, सोहना सेहरा।

१७. लाड़ा मंगदा तमोल, लाड़ा मंगदा तमोल।
माऊ पल्लुआ दा खोल, माऊ पल्लुआ दा खोल।

१८. घोड़ी चढ़दे लाड़े गी गरमी आई, पक्खा झोलदियां भैनां,
सलामां करदे भाई।

१९. लाड़ी कड़ियां (नूपुर) निं छनका,
स्हाड़ा नींगड़ (वर के लिए प्यार भरा सम्बोधन) निं डरा।
स्हाड़ा नींगड़ ई नयाणा, चप्पा टुक्कर देई पत्याना।

२०. लाड़ी गोरी ऐ, गोरी ऐ, गोरी ऐ।
असें शुकर कीता माऊ टोरी ऐ।

सुहाग—दूसरी ओर कन्या के घर में गाए जाने वाले माङ्गलिक गीतों (सुहागों) का विषय घोड़ियों से विपरीत ही है। 'सुहागों' में मार्मिक भावुकता, वात्सल्य और करुणा लबालब भरी रहती है—सुहाग मानव-हृदय के सच्चे उद्‌गार है—पवित्र भावों का प्रकटीकरण है। 'सुहागों' में कहीं पिता, ताया, मामा, भैया आदि की कन्या के वर के उपयुक्त चयन के निमित्त चिन्ता व्यक्त है। वर कन्या के अनुरूप हो—न अधिक बड़ा न छोटा, न सांवला। कहीं दहेज जुटाने की व्यग्रता व्यक्त है तो कहीं कन्या को विदा करते समय अश्रुओं से सिक्त बोल लोकगीतों का विषय बने हुये हैं।

गण्ढियां, तेल, उबटन, स्नान आदि कुछ रस्में तो कन्या के घर पर भी सम्पन्न की जाती हैं, पर बहुत सी रस्में अलग-थलग भी हैं। स्वाभाविक है उनसे सम्बद्ध माङ्गलिक गीतों का विषय भी 'घोड़ियों' से भिन्न होगा।

कन्या जवान है। बाबुल, चाहे लाखों में खेलता हो, युवती कन्या को देखकर कैसे नींद भर सो सकता है?[२१] फिर बेटी की मांग भी तो सामने है। उसे अयोध्या के राजा राम सरीखा वर चाहिए। जहां वह नाना सुखों का भोग करे।[२२] सुहागों में हर कन्या को 'सीता' तथा 'वर' को श्रीराम सम्बोधित किया जाता है।[२३] प्रत्येक कन्या का पिता राजा जनक बताया

---

२१. बाबल तुसें कैत नींदर प्यारी ?
घर कन्या कुआरी, सलोही बेटी बर मंगदी।

२२. अ) बेटी केया जेया बर लोड़िये, जियां तारेयां दै बिच चन्न।
चन्ना बिच काहन, कन्हेया वर लोड़िये।
बर होऐ सिरीराम, लच्छमन छोटा देर होऐ,
मात कौसल्या होवै सस, सौहरा दशरथ होऐ,
मैं ते मगनियां जुद्या जी दा राज,
पंघूड़े बैठी हुकम करां।

आ) बाबल इक मेरा कहना कीजिए,
मिगी राम-रतन बर दीजिए।

२३ अ) उठ हां सीता सुत्तिये, श्रीराम बरने गी आए।

आ) कुत्थैं ते जाइये तेरा जरम टिक्का,
कुत्थैं ते होई कड़माई ?
जनकपुरी मेरा जरम-टिका,
जुद्या ते होई कड़माई।

गया है। कुछेक सुहागों में तो सीता-स्वयंवर वाली घटना को भी डुग्गर लोक-कवि द्वारा विषय बनाया गया है।[२४] अनथक प्रयास से वर, मिल जाता है। नियत दिन को बरात सज-धज कर आ जाती है। विवाह के दिन कन्या के सगे सम्बन्धी निर्विघ्न विवाह सम्पादन के लिये मानो संकल्प करके व्रत रखते हैं। स्त्रियां समयानुसार करुणा से ओत-प्रोत माङ्गलिक गीत भी गा लेती हैं और नानाविध कार्यों को भी लग्न से करती जाती हैं। बरात द्वार पर आ पहुँचती है तो बस यहां घड़ी भर हंसी-मज़ाक का अवसर बनता है। स्त्रियां ऐसे लोकगीत गाती हैं जिनमें 'वर' के माता-पिता, मामा-मामी, बहिन-भाभी को मीठी-मीठी गालियां देती हैं जिन्हें 'सिटनियां' कहा जाता है। कुछेक 'सिटनियों' में फूहड़, अश्लील गालियां भी रहती हैं। विविध वर्जित सम्बन्धों में सम्बन्ध दिखाकर गाली देना 'सिटनियों' में साधारण बात है।

इसके पश्चात् के संस्कारों में गाए जाने वाले गीतों में केवल उदासी ही उदासी भरी रहती है। विवाह मण्डप[२५] में 'वर' और 'कन्या' को बिठाया जाता है।[२६] मण्डप में पंडित-पुरोहित के अतिरिक्त कन्या के माता-पिता, भाई तथा अन्य सम्बन्धी बैठ जाते हैं। चार-पांच घण्टे पुरोहित वैदिक मन्त्रों का और स्त्रियां माङ्गलिक गीतों का उच्चारण निरन्तर करती रहती हैं। इन गीतों में विषय की विविधता रहती है। कहीं 'वर' पक्ष के लोगों को श्रेष्ठ (बादशाह आदि) तथा कन्या पक्ष वालों को साधारण-जन (डोगरी बांवरे) कहा गया है, कहीं पिता, ताया, मामा आदि के अत्युत्तम दान अर्थात् 'कन्या दान' की महिमा का बखान किया गया है।[२७] विवाह में अग्नि को साक्षी

---

२४. बाबल आखदा बेटी उस घर देनी,
जेड़ा मेरा धनष तरोड़ै।

२५. तोतेयां बेद गडा मेरे बावल, तोतेयां बेद गडायो।

२६. धन्न नि माए जनेनदिए, जिन्न ए बेटी जाई,
रेशमी कपड़े लुआई के बेदी आन बठाई।

२७. मेरे बावल दै हत्थ जल-थल गड़वा,
गंगा-जल पानी
होर कुशाँ दी ऐ डाली हे राम।
गौआं दा दान बावल नित्त उट्ठी करदा,
सबेरैं उट्ठी करदा।
कन्या दा दान कदें-कालें हे राम!

बनाकर उसके चहुं ओर कन्या पति के संग भांवर लगाती है। इन भांवरों से सम्बद्ध विशेष गीत हैं।[२८] 'भांवर' प्रायः ब्राह्म मुहूर्त में सम्पन्न होते हैं। कुछ डोगरी लोकगीतों में इस वेला की भी प्रशंसा की गई है।[२९] अश्रुओं से भीगे बोल स्त्रियों के कण्ठों से निस्सृत होते चले जाते हैं। 'फेरे' के गीतों में पवित्र अग्नि जलाकर उसमें घृत की आहुतियां देने का भी उल्लेख किया गया[३०] है। कन्यादान के पश्चात् कन्या अपने वर की हो जाती है। दूसरे दिन कन्या पक्ष की स्त्रियां—प्रायः कन्या की बहिनें—वर को बुलाकर नाना प्रकार के प्रश्न पूछ कर मनोविनोद करती हैं। इसका अभिप्राय सम्भवतः 'वर' की बुद्धि की परीक्षा लेना रहा होगा। ये प्रश्न डोगरी लोकगीतों में छन्द कहलाते हैं।[३१]

दिन अतिथियों की आवभगत करने में बीत जाता है और कन्या की विदाई का हृदय-विदारक अवसर उपस्थित हो जाता है। विदाई के गीतों में करुण रस के फव्वारे फूट निकलते हैं। भाव प्रधान एक गीत में कन्या से पूछे जाने पर कि वह सबको छोड़कर क्यों अन्य किसी के घर जा रही—वह कहती है कि उसके पिता ने किसी से प्रतिज्ञा की है—उस प्रतिज्ञा रूपी धर्म का पालन[३२]

---

२८. थम्में गी लगदे घुंगरू, वेदी लगदे न्हापे।
काह्न गोपी नै लामां लै लेइयां, कोल रोन्दे रहे मापे।

२९. इस वेलै कुन-कुन जागै वे राजे धरमै दा वेला ?
इस वेलै बावल जागै वे राजे धरमै दा वेला।
बावल रूपा बी दिन्दा ते दाज बी दिन्दा,
कन्या दा दान करेन्दा वे राजे धरमै दा वेला।

३०. काहना अग्ग बाली—घ्यो साड़ियै,
कुस राजे दी बेटी ब्याही ऐ ?

३१. साली : छन्द परागे आइये जाइये, छन्दै अग्गें घोड़ी।
जीजे दा बब्ब बटुआ जैसा, जीजे दी मां बोड़ी॥

जीजा : छन्द परागे आखिये, छन्दै अग्गे टेरनी।
लाडो रानी साली अपनी, पाइयै खीसै फेरनी।

३२. बोल तूं मेरिये बागें दियें कोयले, बाग छोड़ी बन कैत चली ऐं ?
बावल मेरे धरम जे कीता, धरमै दी बद्धी औं चली आं।

करने के निमित्त वह मायके को सूना छोड़ के जा रही है।[33] वहीं उसे अपनी 'गुड़ियों'-और उनके वस्त्राभूषणों की रह-रह कर स्मृति आ रही है। वह अपनी माता से अनुरोध करती है कि उसकी 'गुड़ियों' को वह भली-भान्ति सम्भाल कर रखे।[34] माता-पिता के रुदन को देखकर पत्थर-हृदय भी द्रवित हो उटते हैं।[35] कन्या का दुःख-दर्द भी अकथनीय है। घर छोड़ते समय वह अपनी मां को रो-रो कर घर की उन वस्तुओं का रख-रखाव बताती जाती है जिनका प्रयोग प्रायः वही करती थी। एक गीत में लोककवि ने कहा है कि मां-बेटी विदाई के दिन ही मानो ढेर सारी बातें कहना चाहती हैं पर समय कम है। कुछ ही बातें हो पाती हैं, शेष दोनों के मन में धरी रह जाती हैं।[36]

उपरोक्त माङ्गलिक लोकगीतों से इतर भी कुछ गीत हैं जिनका सम्बन्ध जन्म तथा विवाह दोनों माङ्गलिक संस्कारों से है। इनमें एक प्रकार के माङ्गलिक गीतों की संज्ञा 'बधावा' है। 'बधावा' धार्मिक कृत्यों के समय गाया जाता है। इसमें देवताओं की स्तुति और घर-गृहस्थी की मङ्गल कामना की गई होती है।[37]

---

३३. कनकां पक्कियां बावल, सिट्टे होए न डाली।
धीयां टोरियां बावल, वेढ़े होए न खाली।

३४. साम्भियें रख्यां माए गुड्डियां-पटोले,
फिरी नेईं रोयां माए भित्तें दे ओहलै।
मैं परदेसन होई,
मां मेरिये, मैं परदेसन होई।

३५. माता रोन्दी ऐ सिज्जी जन्दा बेढ़ा,
बावल रोन्दा गल लाई, मेरे बावला,
धी तेरी परौह्‌नी होई।

३६. बांह्‌ भरी होई ऐ चूड़े दी, सच्चें भरी होई ऐ चूड़े दी।
ते आ माए गल्लां करिये, ठण्डी छां लसूढ़े दी।
अन्दरा गी गेइयां न, ओ अन्दरा गी गेइयां न।
ते किश गल्लां कीतियां माए, किश दिलै बिच रेइयां न॥

३७. अ) सुर्गा दा उतरे देवते, सान्दी आनी बैठे।
स्हाड़ा बौह्‌न निं बनदा, पन्त पुरोहत बवै॥

उपरिलिखित माङ्गलिक डोगरी लोकगीतों के अध्ययन से डुग्गर में प्रचलित अनेक सामाजिक मान्यताओं और धार्मिक प्रथाओं का ज्ञान प्राप्त होता है। डुग्गर समाज में पुरुष वर्ग की प्रधानता 'घोड़ियों' में वर के लिए प्रयुक्त महाराज शब्द से द्योतित होती है। 'वर' सज-धज कर जब घोड़ी पर चढ़ता है तो किसी प्रकार भी 'महाराजा' से कम नहीं दीखता। घर-बाहर के एकत्रित जन उसके अनुचर-परिजन सरीखे लगते हैं। एक उसे पंखा झुलाता है तो दूसरा 'सलाम' कहता है।[३८] एक गीत में डुग्गर लोककवि ने वधु को विवाह कर लाना लाहौर, कश्मीर और मुलतान जीत कर लाने के तुल्य बतलाया है।[३९]

वर पक्ष वाले कन्या पक्ष वालों की इच्छा के विपरीत भी कभी-कभी मनमानी करते थे जिसका प्रमाण एक लोकगीत (घोड़ी) में मिलता है। किसी कन्या के निर्धन माता-पिता ने दूल्हे से प्रार्थना की कि वह एकाकी ही बिना बाजों के और गैसों के विवाहने आए, पर मनमौजी दूल्हा भाई भतीजों की लम्बी-चौड़ी बारात लेकर बाजों गैसों के साथ सजधज कर उनके द्वार पर जा पहुँचा।[४०] इसके अतिरिक्त 'घोड़ियों' में वर के उबटन, गाना, वस्त्रों, सेहरा, घोड़े आदि की प्रशंसा की गई है। साथ ही उन-उन स्थानों की भी जहां से डुग्गर जनवासी उक्त वस्तुएं मंगवाते थे।

आ) बरसीं बधावड़ेया, बरसीं भाइया।
बरसीं मेरे बावल जी दै खेत,
मेरी माए जी दै देस,
बधावा मेरा रंग-रसिया।

इ) कुस दे वेढ़ै जाना, बधावेया रौंगलेया ?
बावल वेढ़ै जाना, बधावेया रौंगलेया।

३८. सेहरा लान्दे लाड़े गी गरमी आई,
पक्खा झोलदियां भैनां, सलामां करदे भाई।

३९. डोला लेई करी घरै गी आए।
कश्मीर जित्ती मुलतान जित्ती।
ल्हौर जित्ती घर आए।

४०. जे सस्सू सद्देया कल्लम-कलड़ा,
आया तूं भाइयां दै नाल।→

'सुहागों' के अध्ययन से प्राचीन डुग्गर समाज में स्त्री की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। डुग्गर के परिवारों में कन्या का जन्म अवांछित था। वैसे तो समूचे भारत में ही कन्या जन्म के लिए कभी जप-तप किये गए हों— ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता। कन्या सदा ही पराया धन समझी जाती रही है। डोगरी लोकगीत (सुहाग) साक्षी हैं कि कन्या के जवान होते ही पिता, मामा, भाई आदि को किस प्रकार चिन्ताएं आन घेरती थीं। दहेज जुटाना एक विकट समस्या रही है और फिर हृदय के टुकड़े को किसी अन्य को सौंपते हुए जो वेदना होती है उसका दुःख सहना भी तो सरल नहीं।

वस्तुतः इन माङ्गलिक डोगरी लोकगीतों में डुग्गर की घरेलू सभ्यता के चित्र पद-पद पर मिलते हैं। इनमें पारस्परिक पारिवारिक अच्छे-बुरे सम्बन्धों का उल्लेख हुआ है। भतीजा जन्मने पर ननद क्या मांगती है, भाभी क्या देना चाहती है, इन मांगों को विविध रूप से इन गीतों में व्यक्त किया गया है। पौराणिक गाथाओं की छाप की दृष्टि से इन डोगरी माङ्गलिक गीतों में राम और कृष्ण का प्रभाव अत्यधिक उल्लिखित है।

———

... ...

→जे सस्सू सद्देया न्हेरम-न्हेरै,
आया तूं गैसां नूं बाल मराह्‌जेया
आया तूं गैसां नूं बाल।

डोगरी लोकगीतों में वनस्पति प्रतीक

—देवरत्न शास्त्री

कुछ बातें ऐसी होती हैं जिन्हें ज्यूं का त्यूं कहने से बात कुछ बनती नहीं। लगता है, जो कहना चाहिये था, वह ठीक से कह नहीं पाये हैं। आत्माभिव्यक्ति से जो आत्म-संतोष और आत्म-गौरव का अनुभव होता है, वह हमें नहीं हो पाता। इसलिये हमें आत्माभिव्यक्ति का दूसरा परिष्कृत साधन अपनाना पड़ता है। हम बात को ज्यूं का त्यूं न कहकर उससे मिलती-जुलती बात कहते हैं। ऐसे अवसरों पर प्रियतम न कहकर चन्द्रमा शब्द का प्रयोग किया जाता है। और इस एक शब्द से प्रियतम का सौन्दर्य हज़ार गुना होकर मन की आंखों के सामने घूम जाता है। साधारण उपमेय-उपमान प्रक्रिया से ऊपर उठकर जिन सूक्ष्म सादृश्य बोधक शब्दों का प्रयोग किया जाता है उन्हें प्रतीक कहा जाता है। डोगरी लोकगीतों में प्रभावशाली सुन्दर प्रतीकों का स्वाभाविक ललित प्रयोग मिलता है।

अन्य भाषाओं के कवियों ही की तरह डोगरी लोक-कवियों ने भी अपने प्रतीक प्रकृति के उपादानों से चुने हैं। ये उपादान सुन्दर-असुन्दर दोनों हैं, उसी तरह जैसे मानव जीवन में, मानव मन में सुन्दर तथा असुन्दर दोनों भाव हैं। मानव जीवन में प्रेम, वैसे ही व्यापक है जैसे वृक्ष और वनस्पति। जैसे वनस्पति के बिना मानव जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती वैसे ही शारीरिक तथा मानसिक प्रेम के बिना मानव जीवन का प्रारम्भ तथा अस्तित्व विकास असम्भव है। वृक्षमात्र मानवमात्र की—स्त्रीपुरुष की—प्रीत का प्रतीक हैं और उन (वृक्षों) में सिम्बल (सेमर), सरु (मोरपंख) और 'मरुआ' मानव प्रेम की साक्षिता के। सिम्बल बेलागपन का प्रतीक होने के

अतिरिक्त निरर्थक बड़प्पन को भी सूचित करता है। आंवली भी निरर्थक जीव की ओर इंगित करती है—

अम्बै दा बूटा सपाही स्हाड़े लांदे,
मरुऐ क्यारी ओ औं लान्नी आं।

×

विच रजौरिया सरूए दा बूह्टा,
लगदी प्रीता, सुरगै दा भूटा।

×

चिट्टिये मेरिये चादरिये मैं वारी चिड़िये
तुगी सीनियां मरूए हेठ।

×

कोयल माए कूकी ऐ, बे अड़ेया कूकी ऐ सिम्बलै दे हेठ।
हरेया सिम्बल सुक्की गेया, बे अड़ेया पौन्दे निं साधें दे सराफ।

×

हुच्छेया लम्मेया जर्द सिम्बला, चोटी जे भुल्लै अद्द गास बैरिया।
असें जे सुनेया तेरा ब्याह जुड़ेया, चोरी दे नींदरे भेज बैरिया।

×

नेइँ भुल्लै तेरे फुल्लै दी बो बास,
मोया नेइयों तेरे फलें दा सुआद,
ओ म्हाड़ेया बड़ेया छैल सिम्बला।

×

आमली दा सबज बूटा,
पवन भुलवा नेइँ।

दाख (अंगूर की बेल) और आम सरस यौवन का चित्र प्रस्तुत करते हैं तो गेहूँ और कमल भी इसी मादक अवस्था को चित्रित करते हैं—

बाग गोरी दै दाखां पक्कियां,
तोते लग्गे चोरी खाना।

बाग गोरी दै अम्बियां पक्कियां
लोक लग्गे चूसा लानां।

बाग गोरी तेरै फुल्लिआं फुल्लाड़ीआं,
भौंरा लग्गा घूम्वा लैना।

हरी डाली अम्ब पक्के
होये सूये घुट्ट ओ।

×

अम्बै दा बूटा फुल्ली फुल्ली जंदा,
बेह्‌यी जन्दे कामे दे डार।

×

चढ़ेया म्हीना बसाख ओ
रण-मण कनकां पक्कियां।
म्हाड़िये जोड़िये वो
रण-मण कनकां पक्कियां।

×

उड्डी जन्दे भौर ते रेई जन्दे कमले
कुन कोई लैंदा कमलें दा नां।

पके गुच्छे और क्यारी के फूलों के माध्यम से भी इसी सरस मानव अवस्था को उभारा गया है—

अम्ब पक्के न राविआ पार
ते पक्की घुंग्गा चेई ओ पेआ।

×

मेरी कियारी दे कण्डे खड़ोतेया
मेरी कियारी दे फुल्ल न त्रोड़ प्यारे।

वृक्षों के बौर ने यौवन तथा प्रेम की अतिशयता को प्रकट किया है तो बड़ूटा (छोटा बटवृक्ष) उस किशोर की ओर इशारा करता है जिसके यौवन में अभी परिपक्वता नहीं आ पाई है। बबूल उस व्यक्ति का प्रतीक है जो प्रेमियों को प्रेम के कठिन रास्ते पर तो डाल देता है, पर कांटों से उनकी रक्षा नहीं कर पाता।

लौहरी अम्बें बूर पेया,
सीकन वाला दूर गया।

×

कियां झुल्लां गोरिये, शाखां न्यानियां
दूआ डाहलें जोर निं आया!
मेरे टाहलें जोर निं आया गोरिये,
त्रीआ मुलख पराया।

किकरिये कंडयारड़िये तेरी ठण्डी ठण्डी छां,
कदमें गी रखेयो सम्भाल के अतरें दी डकेयो बासना
छाती गी बंधायो धीर ।।

×

किकरिये कंडयारड़िये,
किन्न मोड़े तेरे डाले
हरेयां पत्तेयां वाले ?

चम्बा मादकता, सौन्दर्य तथा रूप का प्रतीक है तो उसकी डाली कोमल सुन्दर नायिका की। इसी तरह कमल के सूखने से उस प्रेमी हृदय की सूचना मिलती है जिसका प्रियतम रूठ गया है।

पुत्रें म्रालें दी मैली सेज
मेरिया सेजा चम्बा वो खिड़ेया।

×

पान्ना जैसी पतली बागें बागें फिरा दी
झुल्लै चमेली डाली।

×

कमलै दा बूटा कियां ऐ सुक्केया
नदिएं सुक्की गे चन्दरे नीर
कमलै दा बूटा हरेया जे भरेया
नदियें सुक्के चन्दरे नीर।

नींबू को उभरते यौवन और उस (यौवन) के फल के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया गया है—

बाग सस्सी दे निम्बु पक्के,
लोक मंगन दुहारे होए,
लोक मंगन दुहारे होए।

ए निम्बु असें देने नेइयों,
हैन दुखें दे मारे होए।
जिनें सज्जनें दे निम्बु पक्के
ऊऐ औने वाले होए।

×

निम्बु जे पक्के इस मालनी दे बागें, मलेटी दे बागें,
अड़ेया निम्बु जो रस जोका पेई बो गेया।

भाइऐ ईऐ निम्बु ओए तरोड़ेया,

गोरीए उस्सै कीते फड़के चार,

निम्बु मेरी जान निम्बु मेरे मन बस्सेया ।

×

निम्बु पक्के राविया पार नेई पेइयां टालियां ।

औंन्दे प्हाड़ी लोक त्रोड़ी जन्दे टालियां ।

औंन्दे साढ़े दोखी लान डूंगियां बोलियां ।

औंन्दे साढ़े सज्जन भरी नेन्दे झोलियां ।

आम के वृक्ष की डुग्गर प्रदेश में बहुतायत है। फल से लदे आम को लोक-कवियों ने भरपूर यौवन के प्रतीक के रूप में उभारा है।

अम्ब पक्के न राविया पार

ते पक्की घुंग्गा चेई ओ पेआ,

चेई ओ पेआ

घुंग्गा नेई ओ गेआ ।

×

अम्बें रस चेई पौन्दा, तेरा सीकन वाला दूर ।

ओ नौकरा अम्ब पक्के घर आ,

ते रस भरिआं डालियां ।

×

अम्बुयै देया बूटेआ ओए,

तेरे पतले नि डाले,

किश हौले, किश भारे,

असें पानी देई-देई पाले,

ते मिली जायां परदेसिया के ।।

यह वृक्ष युवा मन के भावों तथा उसके प्रेम का साक्षी भी है। इस यौवन वृक्ष के आस-पास लोभी चक्कर काटते रहते हैं। इसलिये हर उपाय से इसकी रक्षा होनी चाहिये ।

बाग गोरी दे अम्ब पक्के न

बेई जन्दे तोतें दे डार

जिओ जानें ।

अम्ब टुक्की टुक्की तोते उड़ जन्दे न ।

गुलाब की मोहकता तथा सौन्दर्य सुप्रसिद्ध हैं। इसी तरह शहतूत माधुर्य एवं रसवत्ता के लिये सुपरिचित है। गेहूँ की बल-प्रदत्ता में भी किसी को सन्देह नहीं हो सकता। इन तीनों को परिपूर्ण यौवन के प्रतीक-रूप में प्रस्तुत किया गया है।

खिड़ेया तेरिया बाड़िया,
खिड़ेग्रा ग्रसल गुलाब
चिन्ता कें बुज्जी।

×

खिली बो ग्राइयां टाहलियां
पक्की ग्राए काले तूत।
तां पपीहा बागें बोलेया,
शामा बो बौहगे टाहलिया,
चुनी चुनी खागे काले तूत।

×

कनकां पक्कियां बे डोला,
बैरी घूरदे बे डोला,
तक्कां रक्खियाँ बे डोला।

यौवन के मधुर क्षणों में स्नेह का आदान-प्रदान जीवन में मधुरस का संचार करता है और इसका अभाव स्नेह को मशीनी हरकत बना देता है। इस भाव को बिना बाले वाली गेहूं के माध्यम से प्रतीक रूप में अंकित किया गया है।

कनकां जे पक्कियां रौइयां पार
पक्की सिट्टा नेईं बो पेया
बोल कीते दिन चार
चौथा म्हीना चढ़ी बो गेया॥

आम ही की तरह बड़ भी डुग्गर प्रदेश का मुख्य वृक्ष है। इसकी लम्बी आयु का कवियों ने प्रतीक रूप में कई तरह से प्रयोग किया है। डोगरी लोक-गीतों में इस वृक्ष को प्रेम तथा उसकी अमरता के साक्षी रूप में प्रस्तुत किया गया है। किक्करी कंडयारी (छोटे बबूल वृक्ष का स्त्रीलिंग प्रयोग) वह भोली-भाली नायिका है जो भावावेश में प्रेम मार्ग पर दौड़ तो पड़ती है पर कांटों में उलझ जाती है।

पति-पत्नी के सहभाव तथा उनके अकृत्रिम प्रेम का समान चिह्न पुत्र है जो चम्बे की कली ही तो है। वैसे साधारणतया डोगरी लोकगीतों में चम्बा हर्ष के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुआ है जो सदा हरा-भरा रहता है।

पुत्रें आलें दी मैली सेज,
मेरिया सेजा चम्बा बो खिड़ेया।

×

ए कमल फुल्लें आंगर खिड़ेया
चम्बै कली आंगर अम्बड़ रानी ए।

×

आंगन लानी चम्बा बीबा,
डगै मरुआ क्यारी।
होरने दियां टालियां सुक्की गेइयां बीबा,
मेरी हरी ऐ क्यारी॥

इसी तरह गुलाब की अवतारणा पुत्र प्रतिनिधि के रूप में की गई है। कुछ गीतों में गुलाब से उस सौन्दर्य की भी अभिव्यक्ति की गई है जिसके लिये लोग बहुत लालायित रहते हैं किन्तु वह उन्हें मिलता नहीं।

गोरी दै अंगन फुल्ल जे खिड़ेया
खिड़ेया असल गुलाब।
गोदां हरियां होइयां।

×

फुल्ल खिड़ेया दूर धारा
औन्दा नई हत्थ होए
लोक करदे बेई दलीलां
औन्दा नई हत्थ होए।
लोक करदे बेई दलीलां
चढोंदा नई ढक्क होए।
कोदे लेखें ए लखोया
कुसदी होनी भक्त होए।

डोगरी लोक-कवियों ने नागर बेल से विकास, दूर्वा से मंगल तथा सरसों से विकास एवं विश्वास के भाव प्रकट किये हैं।

बेली बेली छप्पर छाया, छप्पर छाया,
खिड़ी रेई ऐ नागर बेल, भला ए !

×

सैल्लै, सैल्लै बनें दी द्रुब्ब मंगानियां,
बावल जी दी कलगी सजायो मेरे राम !

×

ननद भरजाई दौन्नें चरखा जे डाया अड़िये,
करदियां कौल-करार ।
जे तेरै घर भावो गीगा जे जाया अड़िये,
लैनी मैं फुल्ल-सरेयां ।

×

फुल्लां बिच
फुल्ल सोहामा
सरेयाँ तोरिया ।।

कमल युगयुगों से भारतीय मानस के शान्ति, प्रसन्नता तथा सौन्दर्य के अमर भावों का प्रतीक रहा है। डोगरी लोक-कवियों ने भी अपने अमर गीतों में इन्हीं शाश्वत भावों को प्रकट करने के लिये कमल का प्रयोग किया है।

ए कमल फुल्लै बांगर बावल खिड़ेया,
चम्बे कली अम्बड़ रानी ऐ।

×

स्हाड़े बेढे आ बन्नेयां
कमल फुल्लै ठण्डी छां।

×

कमलै दा बूटा कियां ए सुक्केया
नदिएं सुक्की गे चन्दरे नीर
कमलै दा बूटा हरेया जे भरेया
नदिएं सुक्के चन्दरे नीर ।।

×

उड्डी जंदे भौर ते रेई जन्दे कमले
कुन कोई लैंदा कमले दा नां
सुक्की जन्दे मास ते रेई जन्दे पिंजरे
कुन कोई लैंदा हड्डिएं दे नां।

विशेष (चम्बा, गुलाब आदि) फूलों के अतिरिक्त सामूहिक रूप में – जातिगत रूप में फूल यौवन रस, यौवन के मधुर क्षण तथा क्षणभंगुर सौन्दर्य के लिये प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुआ है।

गेया स्याला भौरें ओ पछान्ती ऐ अपनी बहार,
खड़ुं खड़ोलियें कालड़ा भौर फिरदा,
बौहने गी तुपदा थाहर।
मालती सीकी ऐ कोई चम्बा बी सीकेया
रक्खी ऐ गलाबै दी लोका आस
ओ रक्खी गलाबै दी आस।
कुन कोई लैन्दा आवै गलाबै दी बहार,
पीले फुल्लैं दी लोका रक्खी ऐ आस,
ओ पीले फुल्लैं दी रक्खी आस।

×

मेरी कियारी दे कण्डे खड़ोतेया
मेरी कियारी दे फुल्ल न त्रोड़ प्यारे
तुकी चुनी के भेजाँ चुनाई के भेजां
मिकी राजे दे ल्हामें न भेज प्यारे॥

×

आंङण फुल्ली मरुआ मालती
खंटालुये छोड़ी भली बास,
इयै बछोड़ा मिगी खाई जन्दा बो मेरी जान॥

×

सारां मनै दियां लेइयां,
हस्सी-हस्सी सेइयां पेइयां,
मालती मरुआ लरजे,
भौरा देसें आई जाना।

×

कल पिंजरा छोड़ी जाना,
बाग गोरी तेरै फुल्लीआं फुल्लाड़िआं
भौर लगा चूम्बा लैना
लिन्दै भौंरा गी ठाका नई पाएआं
कल कमला छोड़ी जाना।

बाग गोरी तेरे दाखां जे मक्किश्राँ,
लोक लगे चोरी खाना,
खन्दे लोकें गी तूं ठाका नईं पाएश्राँ
कल दुनियां छोड़ी जाना।

×

फूलों से लदी फुलवाड़ी भरे-पुरे परिवार की ओर इगित करती है।

बीरा बावल दी खिड़ी ऐ फुलवाड़ी,
कच्ची कलि निं त्रोड़ो
मेरे लाल बन्ना।

बाग के माध्यम से मदमाते यौवन की ओर भी संकेत किया गया है।

कुस लाया ईऐ श्रोए बागड़ा
मोईए कुस दित्ते झल्ल बाड़?
भाबो लाया ईऐ श्रोए बागड़ा
श्रड़ेयो भाइये दित्ते झल्ल बाड़।
लोको कुस भरे घुट्ट चार?

एक सोहाग में पिता के घर को बाग तथा ससुराल को वन के रूप में चित्रित किया गया है।

बोल तूं मेरिये बागे दिये कोयले।
बाग छोड़ी बन कैत चली ऐं?
बावल मेरे धर्म जे कीता,
धरमै दी बद्धी श्रौं चली श्रां॥

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि डोगरी लोक-कवियों ने वनस्पतियों के मधुरस से अपनी रचनाओं में जो जीवन संचार किया है, वह सरल मोहक तथा मनोरम तो है ही, साथ ही संसार के किसी उच्चकोटि के साहित्य में पाई जाने वाली अभिव्यञ्जन क्षमता से सम्पन्न भी है। आडम्बर बहुल आधुनिक सभ्यता के प्रभाव के कारण अधिकांश साहित्यों में जो अधिकाधिक कृत्रिमता का प्राधान्य होता जा रहा है, हमारा लोक-साहित्य उससे बिल्कुल अछूता है, यह हमारे लिये प्रसन्नता एवं सन्तोष का विषय है।

———

डोगरी लोकगीतों में चित्रित परिवार का स्वरूप

—सत्यपाल शास्त्री

डोगरी लोकगीतों मे हम डुग्गर प्रदेश के जीवन-दर्शन का विस्तृत तथा वास्तविक रूप चित्रित हुआ देखते हैं। सामूहिक रूप में इन गीतों में सौन्दर्य, संगीतात्मकता और अद्‌भुत चमत्कार के साथ जो सहज मौलिकता, भाव-प्रवणता, सरसता, हर्ष, शोक और करुणा का अनूठा मिश्रण है वह इन गीतों की निजी विशेषता है। यही कारण है कि इन गीतों को गाते या सुनाते समय हम अपना आप ही मुखरित हुआ अनुभव करते हैं।

डुग्गर के पारिवारिक जीवन का वास्तविक स्वरूप तो हम इन गीतों के बिना कहीं अन्यत्र देख ही नहीं सकते। यदि हम कहें कि ये गीत डुग्गर के पारिवारिक जीवन का संगीतमय विश्वकोश हैं तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

इन गीतों में हम बच्चे के जन्म से लेकर मनुष्य के मरण तक होने वाले अनेक संस्कारों के दर्शन करते हैं। डुग्गर के संयुक्त परिवार की कटुता तथा उपादेयता, दाम्पत्य जीवन में विरह की वेदना, अनमेल विवाह से होने वाली मानसिक पीड़ा, वैवाहिक जीवन की असंगतियों के कारण उत्पन्न कुण्ठाएं, पति की अनुपस्थिति में सास-ननद आदि के बहू के प्रति कठोर व्यवहार के कारण होने वाली आत्मपीड़ा, रोमांस, पारिवारिक जीवन में आर्थिक दुरवस्था-जन्य संकट आदि अनेक पहलुओं का चित्रण इन गीतों में बड़े सरल परन्तु अलंकारिक ढंग से किया गया है। संक्षेप में ये गीत डुग्गर-समाज के पारिवारिक जीवन की सच्ची तस्वीर उपस्थित करते हैं। यदि हम यह कहें कि डुग्गर के पारिवारिक जीवन का कोई भी पहलु इनसे अछूता नहीं रह गया है तो उपयुक्त ही होगा। जो कुछ भी इनके माध्यम से चित्रित हुआ है उसमें कहीं

भी बनावटीपन न होकर वास्तविकता है और यही वास्तविकता इन गीतों की प्राण तथा आत्मा है। यही कारण है कि इन गीतों का संगीत-माधुर्य और भाव हमारे हृदय पर अपनी छाप छोड़ जाता है।

इन गीतों की एक और विशेषता यह है कि इनमें जिन प्रतीकों का आश्रय लिया गया है वे हमारे इतिहास के उज्ज्वल तथा आदर्श चरित्र हैं। जैसे—श्रीराम, सीता, श्रीकृष्ण, राधा, राजा दशरथ, राजा जनक आदि। इसमें दो ही कारण हो सकते हैं। एक तो इन उज्ज्वल चरित्रों के दिव्य स्वरूप की हमारे दैनन्दिन जीवन पर अमिट छाप ; दूसरा डुग्गर के लोगों के व्यावहारिक जीवन का सुसंस्कृत तथा परिष्कृत रूप। लड़के के विवाह के समय गाए जाने वाले गीत को 'घोड़ी' कहते हैं। विवाह के पहले सगाई के समय लडकी के पिता की ओर से सगाई का प्रतीक तिलक आ जाने पर विवाह की तैयारी होने लगती है। लड़का श्रीराम चन्द्र का प्रतीक है और कन्या सीता जी और लक्ष्मी की प्रतीक मानी जाती है तथा कन्या का पिता राजा जनक का प्रतीक समझा जाता है। इस गीत की पंक्तियां देखिए—

लग्गी सानू देर,
जाई के धनुष उठाना।
लग्गी सानू देर,
सीता व्याई घर औना
लग्गी सानू देर।

कुछ घोड़िओं में डुग्गर में प्रचलित वैवाहिक रीति-रिवाजों का अनूठा चित्रण है। वर श्वसुर-गृह के लिए विदा किया जा रहा है। उसे मां अपना दूध पिलाने का शगुन करती है, बहन आञ्चल करती है और बड़ी भावज उसकी आंखों में काजल डालने की प्रथा निभाती है और बदले में सभी उससे अपनी इच्छानुसार इस प्रसन्नता के अवसर पर कुछ न कुछ मांगती हैं—

मां दुद्ध देऐ, भैन पक्खी झोलै,
भाबी सुरमेंदानी हरयालेया बन्ना।
मां हार मंगै, भैन चूड़ा मंगै,
भाबी अतरदानी बो, हरयालेया बन्ना।

इसी प्रकार इस गीत में तमोल[1] प्रथा की ओर संकेत है—

लाड़ा[2] मंगदा तमोल,
लाड़ा मंगदा तमोल।
माऊ, पल्लुआ दा खोल,
माऊ, पल्लुआ दा खोल।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विभिन्न विषयों के चित्रण के साथ-साथ घोड़ियों में एक विशेष प्रकार की सहज उमङ्ग और उल्लास के दर्शन भी होते हैं।

सुहाग-गीतों में हर्ष और वेदना का सहज मिश्रण है। इन गीतों में विवाहोत्सव-जन्य उमङ्ग के साथ एक कल्पनातीत कसक भी है। इन गीतों के मधुर संगीत के पीछे विवश हृदयों की धड़कनें तथा मूक आत्माओं की मार्मिक चीत्कारें भी हैं। चाहे कन्या है या उसका पिता, उसकी मां है या बहन-भाई तथा सखी-सहेलियां सभी एक सांझी पीड़ा से पीड़ित हैं। किसी भी डुग्गर परिवार में कन्या के जवान होने के साथ-साथ चिन्ताओं के बादल छा जाते हैं। यद्यपि डुग्गर की औसतन जवान लड़कियां अपने मुंह से कभी भी अपने विवाह के विषय में कुछ नहीं कहती हैं तो भी उनका खिलता यौवन विवाह की अनिवार्यता के विषय में बार-बार कुछ संकेत करता है तथा अपनी मूक भाषा में कुछ अवश्य कहता है। वे अपने माता-पिता से यही अपेक्षा रखती हैं कि उनके वर श्रेष्ठ तथा आदर्श होने चाहिएं। इस गीत में इसी भाव की अभिव्यक्ति सुन्दर प्रतीकों के साथ की गई है—

बेटी केया-जेया वर लोड़िये ?
जिआं तारेयां दे विच चन्न ;
चन्ना विच काह्‌न, कन्हैया वर लोड़िये।
वर होए सिरीराम, लच्छमन देर होए,
मात कौसल्या होवे सस, सौह्‌रा दशरथ होवे।

हमारे समाज में दहेज प्रथा एक जघन्य कलंक है जो चिरकाल से डुग्गर के पारिवारिक जीवन को कचोटती आ रही है। जिस व्यक्ति की आर्थिक-दशा अच्छी नहीं है उसके लिए अपनी कन्या का विवाह जीवन की सबसे बड़ी

---

१. विहाह के समय वर पक्ष के सम्बन्धिओं द्वारा दिया जाने वाला धन।
२. वर

समस्या है। सुहाग की इन पंक्तियों में आर्थिक दुर्बलता की बड़ी सहज तथा मार्मिक अभिव्यक्ति है—

उठ हो बावल सुत्तेआ,
सज्जन खड़े बूह्ए बाहर।
कर लै सज्जन दिआं मिनतां,
नां घर लौंग ते लाचियां ;
नाँ घर मोह्रें दे हार।
सक्खनी कन्या असें, व्याई देनी।

इन गीतों में अनमेल विवाह के प्रति यत्र-तत्र तीव्र प्रतिक्रिया मिलती है। यद्यपि डुग्गर समाज में लड़की अपने विवाह के विषय में कोई सम्मति नहीं रखती तो भी वह किसी न किसी प्रकार अनमेल विवाह के प्रति अपना अव्यक्त रोष अवश्य प्रकट करती है।

बावल, देस जायो, परदेस जायो,
हमरी जोड़ी दा वर ढूंडेयो।

लज्जा डुग्गर के पारिवारिक जीवन का सहज श्रृंगार है। परिवार की प्रत्येक स्त्री लज्जा के अनुशासन में सदा बंधी रहती है। इस गीतांश में स्त्री-सुलभ लज्जा का बड़ा अनूठा चित्रण है—

उठ हां सीता, सुत्तिये,
श्रीराम वरने गी आए।
कियां उट्ठाँ मेरे काह्न जी,
मैं ते बावल कोला शरमानियां।

श्वसुर गृह जाती हुई कन्या को माता-पिता का उपदेश भी डुग्गर की सांस्कृतिक थाती है। इस गीतांश में इस तथ्य की पुष्टि की गई है

माऊ दे थाह्र समझेआँ सस महारानी गी,
बावल दे थाह्र समझेआँ सौह्रे महाराजे गी।
भैनू दे थाह्र समझेआं बड्डी ननानू गी,
वीरे दे थाह्र समझेआँ देरै शतानै गी।
ए गल्ल भुल्लेआं नईं
धीए मेरिये, ए गल्ल भुल्लेआं नेईं।

कितने पवित्र विचार हैं इस गीतांश में ?

बच्चे के जन्म पर परिवार में एक विचित्र उल्लास की लहर दौड़ जाती है। बच्चे के दादा, दादी, मासी आदि सभी सम्बन्धी बधाई देने वालों को कुछ न कुछ अवश्य देते हैं—

कुन्न-कुन्न सुनेया बाला जरमेया,
कौन बण्डै वधाइयां बे ?
अज्ज मेरे बाले जरम लेया,
दादी नै सुनेया बाला जरमेया।
दादा बण्डै बधाइग्रां बे
अज्ज मेरे बाले जरम लेया।
केह् किश् लैना गुरैं पुरोह्तें
केह् किश् लैना नाइयैं बे।
पञ्च रपे लैने गुरैं पुरोह्तैं
मासी लुट्टी लेई नाईयैं बे
अज्ज मेरे बाले ने जरम लेया॥

छोटे बच्चों को पह्नाए जाने वाले आभूषणों का इस गीत में कितना अद्भुत चित्रण है—

मेरेआ लाल तुगी काहे दा चा ?
मेरिये माए मिगी कुण्डलां दा चा।
कुण्डल बावल आन्नेगा,
पेट तरागड़ी आन्नेगा,
हत्थें दे कंगन आन्नेगा,
पैरें दे झांझर आन्नेगा।
बाला दड़-बड़ नच्चेगा,
झाँझर छन-मन छनकेगा।

डुग्गर प्रदेश में कहीं-कहीं प्रथा है कि नई दुल्हन को विवाह के बाद पहली बार मायके से बुलाने के लिए श्वसुर, जेठ या देवर जाते हैं। परन्तु नवोढ़ा को यह बात कदापि रुचिकर प्रतीत नहीं होती। वह यदि श्वसुर-गृह जा सकती है तो केवल अपने पति के साथ ही अन्य के साथ नहीं। इस गीतांश में एक दुल्हन की इस विषय में मूक तथा सभ्य अस्वीकृति देखिए—

पहली-पहली बारी मिगी सौह्रा लैन आया,
नईं जाना, नईं जाना मेरी माए।
ते एदे कन्ने नईं जाना,
पैर पुट्टया निं जा…

परिवार में यदि घर का मुखिया या जीविकोपार्जन करने वाला व्यक्ति दुर्व्यसनों में पड़ जाता है तो परिवार की आर्थिक दशा बिगड़ जाती है। इस गीतांश में इसी प्रकार के जीवन का मार्मिक चित्रण है—

होरनें ते राह्यां बाजरे-चरियां,
भङ्गियां[1] नै राह्यी भङ् लोभिया ;
इस भङ्गिया नै राह्यी ऐ भङ् लोभिया।

संयुक्त परिवार सदस्यों के लिए कहीं वरदान है तो कहीं महान् अभिशाप भी। फिर संयुक्त परिवार में यदि किसी व्यक्ति के दो विवाह हो जाएं तो कहना ही क्या। उस परिवार का प्रत्येक सदस्य वहां से भाग ही जाना चाहता है। इस गीतांश में इस तथ्य का स्पष्ट चित्रण है—

जीओ मेरी जिन्दड़िए ते,
जीओ मेरी जान्नै।
साकन मारै बोलियां ते,
जठानी मारै तान्ने।
ससरिये तुगी नाग लड़ैं ते,
मौती मरैं ननान्नैं।
इस देस नेईं रौह्ना जिन्दे,
उठ चल देस बगान्नै।

परिवार में यदि पति व्यवहार कुशल न हो तो वैवाहिक जीवन में कटुता आ जाती है। इस झंझोटी गीत में इसका चित्रण है—

खसम मेरा करै खरीदां, पूरा ऐ बपारी,
बुड्डे ढग्गे भैंस खरीदी, हक नीं आन्दा हारी।
बाग ते म्हेली सारी बेची, उसनै छुड़ेआ गाली,
पकड़ घुआड़ी किक्कर दलदा चंगी खट्टी घाली।

---

1. भङ् पीने वाला व्यक्ति

डुग्गर की स्त्रियों के आभूषणों में चूड़े का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इसको प्राप्त करने के लिए स्त्री कड़ी से कड़ी मेहनत करने के लिए तैयार हो जाती थी —

बेह्यी पसारै चरखा में डाह्‌नी ग्रां,
कत्तीनीग्रां चूड़े दे चा।
ग्रो जाने मेरिये
कत्तनीग्रां चूड़े दा चा।

डुग्गर के पारिवारिक जीवन में चर्खे की महत्वपूर्ण भूमिका है। यह मुख्य घरेलू उद्योग है। डुग्गर की स्त्रियां बारीक धागा कातने में प्रवीण हैं। चाननी रात में बैठकर वे चर्खा कातती हैं। इस गीतांश में इस ओर संकेत है—

में म्हीन कतदी तार,
निं मेरा सालुग्रा।
मेरी ग्रम्मां जी ने भेजे पटार,
निं मेरा सालुग्रा।
जिनां जो खोल्हां में चाननी रात,
निं मेरा सालुग्रां।

डुग्गर में प्रचलित साहुकारी प्रथा द्वारा होने वाले डुग्गर परिवार के शोषण का भी इन गीतों में हृदय-विदारक चित्रण है। इस गीतांश में देखिए—

शाह नै टोम्बू लेग्रा बनाई,
मेरे नक्क प्राण गे ग्राई।
रनक रपेइये निकले बाई,
ते दौं पर छे बीयां होई गेग्रा।

उस परिवार की आर्थिक दुरावस्था का इस गीतांश में चित्रण है, जिसकी फसल समय पर वर्षा न होने से बिगड़ जाती है—

उक्की जन्दा बाजरा बो,
सुक्की जन्दी मक्क होए!
कियां देना मालिया बो,
कियां देना सट्ठ होए!
नत्थ बेची मालिया बो,
बरलाक बेची सट्ठ होए!

इन गीतों में कहीं-कहीं पारिवारिक जीवन में पति-पत्नी के झगड़ों का बड़ा व्यंग्यपूर्ण चित्रण है —

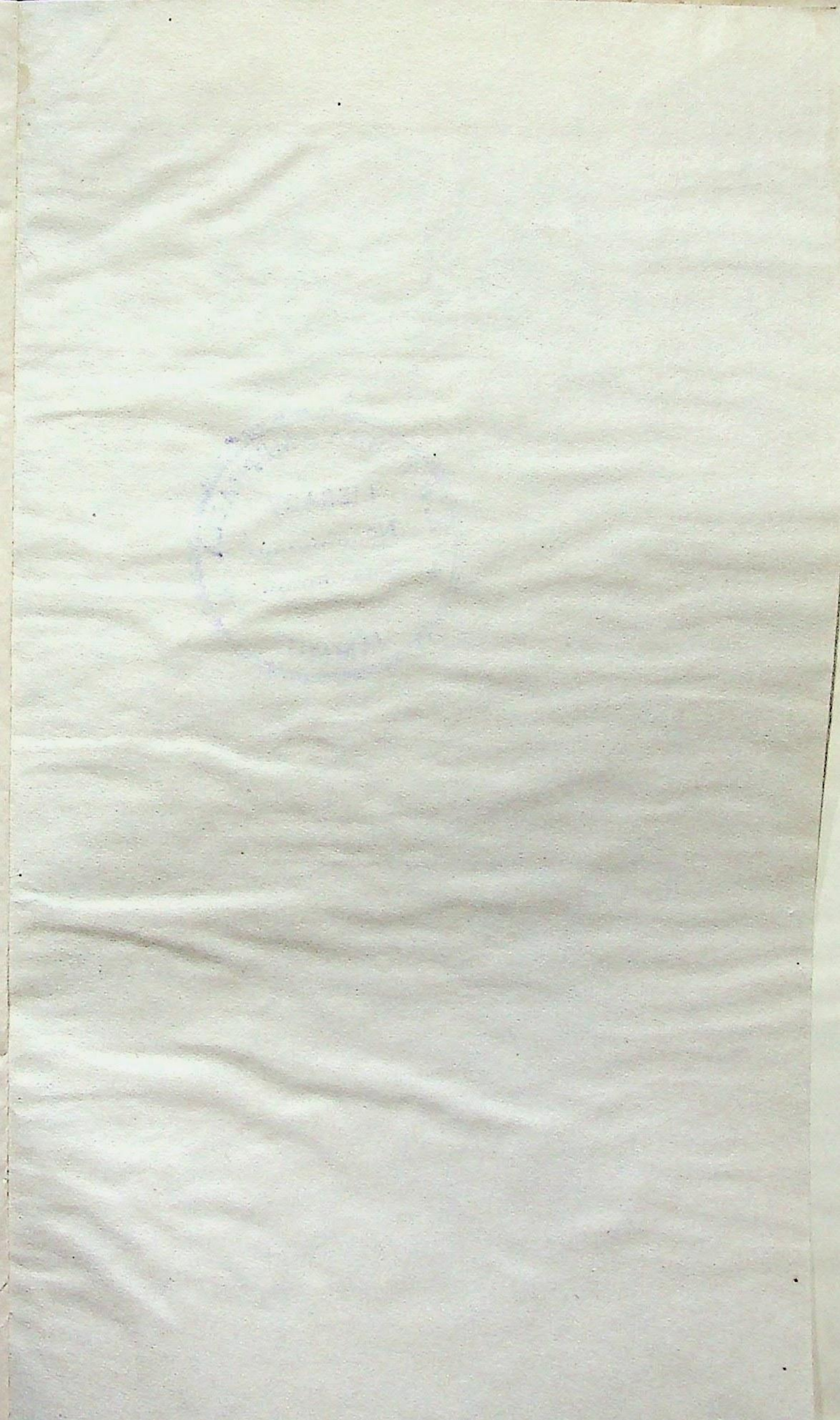
लैंदे बजारों बे नुकदी,
ए लै अपना बाल बच्चा।
भई मेरी तेरी नई पुगदी।

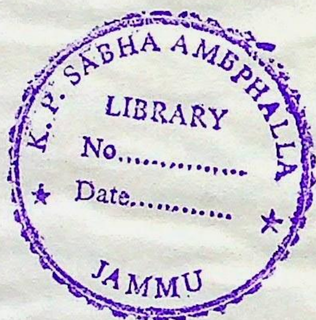
किसी समय डोगरों का मुख्य व्यवसाय सेना की नौकरी था। इससे उनका पारिवारिक जीवन अस्त-व्यस्त ही रहता था। उन्हें जीवन में अधिकतर विरही बनकर ही रहना पड़ता था, उधर उनके घरों में उनकी पत्नियां भी विरहाग्नि में झुलसती रहती थीं। कभी-कभी विरह में उनकी काम-भावनाएं भी भटक उठती थीं। इस गीतांश में इसकी स्पष्ट झलक है —

अम्बर लग्गी ऐ बदली पौन्दिआं निक्कियां कनियां।
छाती दे खुड़ी गे बीड़े, लक्का ढली गेईआं तनियां॥

इस प्रकार हम डोगरी लोकगीतों में डुग्गर के पारिवारिक जीवन का विविध ढंग का चित्रण देखते हैं। आज युग की मान्यताएं बदल जाने पर इस प्रकार के लोकगीत हमारे लोक-साहित्य की अमूल्य थाती हैं। यहां यह भी स्पष्ट कर देना उचित है कि इन गीतों में चित्रित रीति-रिवाज आदि आज भी डुग्गर देश में किसी न किसी रूप में प्रचलित हैं। चलचित्र-संगीत, रेडिओ, टेलीविजन आदि का प्रचार हो जाने पर भी ये गीत वैसे ही सहृदयों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं जैसे इनके आविष्कारों के पहले करते थे।

———




K.P. SABHA AMBPHALLA
LIBRARY
No.............
Date...........
JAMMU



A Publication of :
J & K Academy of Art, Culture & Languages,
Jammu.